उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१२ | १९९१—दिसम्बर | अंक—१२

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन। ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	४५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

* जीव मानो दाल है। चक्की में पड़े हैं, पिस जायेंगे। परन्तु जो थोड़े-से दाल के दाने खूंटी को पकड़कर रहते हैं, वे नहीं पिसते। इसलिए खूंटी अर्थात् ईश्वर की शरण में जाना चाहिए। उन्हें पुकारो, उनका नाम लो, तब मुक्ति होगी। नहीं तो कालरूपी चक्की में पिस जाओगे।

* गृहस्थ के कर्त्तव्य हैं, ऋण है; देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण—फिर परिवार का ऋण है। सती स्त्री होने पर उसका पालन-पोषण, सन्तान जब तक योग्य नहीं बन जाते हैं, तब तक उनका पालन-पोषण करना पड़ता है। साधु ही केवल संचय नहीं करेगा। 'पंछी और दरवेश' संचय नहीं करते हैं। परन्तु मादा पक्षी के बच्चा होने पर वह संचय करती है। बच्चे के लिए मुख से उठाकर खाना ले जाती है।

* आँधी आने पर धूल उड़ती है, समझ में नहीं आता कि कौन आम का पेड़ है और कौन इमली का। आँधी शान्त होने पर फिर समझ में आता है। नये प्रेम की आँधी शान्त होने पर धीरे धीरे समझ में आ जाता है कि ईश्वर ही श्रेयः नित्य पदार्थ है और सभी कुछ अनित्य है।

* ऊँट कटीली घास को बहुत चाव से खाता है। परन्तु जितना ही खाता है उतना ही मुँह से धर धर खून गिरता है, फिर भी कटीली घास को खाना नहीं छोड़ता। संसारी मनुष्यों को इतना शोकताप मिलता है, किन्तु कुछ दिन बीते कि सब भूल गये। औरत गुजर गयी या बदचलन निकली, तो फिर ब्याह कर लेता है। बच्चा मर गया, कितना दुःख पाया, पर कुछ ही दिनों में सब भूल जाता है। बच्चे की वही माँ जो मारे शोक के अधीर हो रही थी, कुछ दिन बीत जाने पर फिर बाल सँवारती, जूड़ा बाँधती और गहनों से सजती है।

श्रीरामकृष्ण प्रातःस्मरण स्तोत्रम्

स्वामी प्रशान्तानन्द

प्रातः स्मरामि जगतो भव-भाव-हेतु
हेतुं लयस्य च भवाम्बुधि-पार-सेतुम् ।
लीला-विलास-विलसद्-वपुसं सुधीशं
श्रीरामकृष्णमवतार-वरं तमीशम् ॥१॥

प्रातर्नमामि कलि-दोष-विदाह-दक्षं
चानन्द-कन्दमरविन्द-दलायताक्षम्
यः काम-कांचनमहोतनु-वाङ्मनोभी
रेजे विहाय भुवि संयत-वाक् सदाभीः ॥२॥

प्रातर्भजामि भजतां भव-भार-हारं
पापोघहं करुणया धृत-देह-भारम् ।
योगीश्वरं परम हंस-वरं प्रशान्तं
मूर्द्धारविन्द-मकरन्द-मधुव्रतं तम् ॥३॥

भावार्थ—जो जगत की उत्पत्ति, पालन और लय के कारण हैं, संसार-सागर से उद्धार करने के एकमात्र सेतु-स्वरूप हैं, लीला करने के लिए जिन्होंने शरीर धारण किया है, उन विद्वद्वर श्रीरामकृष्ण परमहंस को मैं शुभ प्रभात में स्मरण करता हूँ ॥१॥

जो कलिकाल के दोषों को भस्मीभूत करने में दक्ष हैं, आनन्द के मूल उत्सस्वरूप एवं पद्मपलास-लोचन जो मन-वाणी और शरीर से इस भूलोक में काम-कांचन का परित्याग कर तथा वाणी को संयत रख निर्भीक होकर विराजमान थे, उन अवतारवरिष्ठ श्रीरामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥२॥

प्रणत लोगों को मुक्ति-प्रदान करनेवाले, समस्त पापों के विनाशक, करुणा से भरकर जिन्होंने शरीर धारण किया था, योगीश्वर, प्रशान्त, परमहंसों में श्रेष्ठ, संसार चक्र से गिरे मकरन्द का पान करने वाले मधुप श्रीरामकृष्ण का मैं प्रातः काल भजन करता हूँ ॥३॥

देवलोक

स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवादक—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण मिशन, राजकोट

"दक्षिणेश्वर माहात्म्य"

बेलूर मठ लौट कर दोपहर का प्रसाद पा कर पश्चिम की तरफ बरामदे में महापुरुषजी को प्रणाम करते ही उन्होंने आनन्दपूर्वक दक्षिणेश्वर की बात खूब एकाग्रतापूर्वक सुनी। दक्षिणेश्वर का चिंतन उनके हृदय में बसा हुआ था। उन्होंने खूब भाव के साथ कहा : 'दक्षिणेश्वर क्या कोई साधारण स्थान है ? ठाकुर की विशेष तपस्या का स्थान है। उन्होंने लम्बे समय तक कठोर तपस्या और नाना प्रकार की साधनाएँ की थीं। अवश्य ही उन्होंने यह सब लोक शिक्षा के लिए किया था—उनका स्वयं का कोई प्रयोजन न था। वे तो स्वयं ईश्वर हैं। दक्षिणेश्वर में साधना कर के संसार को यह भी दिखाया कि भजन-साधन और तपस्या आदि के लिए पर्वत-पहाड़ में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। जो जिस स्थान पर हैं उसी स्थान को साधनापीठ के रूप में परिणत कर सकता है। तीर्थराज दक्षिणेश्वर का माहात्म्य ठीक-ठीक समझने के लिए वहाँ पर कुछ दिन रह कर साधना-भजन करना पड़ेगा। माँ काली भवतारिणी खूब ही जागृत देवी हैं। इस युग में ठाकुर ने सब देव-देवियों को और भी जगा दिया है। मैं सब समय नहीं जा सकता। यहाँ पर रह कर ही रोज दक्षिणेश्वर के उद्देश्य से प्रणाम करता हूँ"—इत्यादि अनेक बातें उन्होंने दक्षिणेश्वर के संबंध में कहीं। उससे स्पष्ट मालूम हुआ कि दक्षिणेश्वर एक साधारण तीर्थ स्थान मात्र नहीं है। श्रीरामकृष्ण—भाव-धारा और युगआदर्श का सुन्दर दिव्य प्रतीक है। किन्तु इस दिव्य सम्पत्ति के मूल्यांकन में ठीक सचेत था या नहीं, यह मैं नहीं जानता। वास्तव में जो कुछ भी मेरे जीवन में आध्यात्मिक संपत्ति का लाभ हुआ उसमें कोई भी मेरे चेष्टा के फल-स्वरूप नहीं हुआ। कोई एक दैवी अनुकम्पा मुझे कल्याण के रास्ते में ले चली है।

"खोका महाराज की कर्म-प्रियता"

दोपहर में महापुरुषजी विश्राम कर रहे थे—और अन्य साधु भी। मैं चुपचाप ठाकुर-मंदिर की तरफ मुख कर के नीचे के बरामदे में बैठा था। खोका महाराज ढ़ाई बजे ऊपर से नीचे उतर आये, और हाथ में एक धोती, डलिया और कुछ रस्सियाँ थीं। उनको देखकर मैंने जल्दी से उठ कर भूमि पर लेट कर प्रणाम किया। वे मुस्कुराते हुए बोले : 'तुम यहाँ बैठे हुए हो ? मेरे साथ जरा आओ तो। बगीचे में कुछ कलम बांधूंगा—तुम भी सीख जाओगे। उनके हाथ से उस डलिया को ले कर साथ-साथ चल पड़ा। पास के बगीचे में जा कर पेड़ पर चढ़ कर के जामरुल, आम और बातापी नींबू आदि फलों के पेड़ों की पतली-पतली डालों पर कलम बांधने लगे। मैं भी उनको नाना प्रकार से सहायता कर रहा था। उन्होंने प्रत्येक पेड़ का परिचय दे कर समझाया। आम के पेड़ के संबंध में बोले : 'यह नीलम आम का पेड़—राजा महाराज ने दक्षिण भारत से लाकर सन् १९०८ में मठ में दो कलम लगाये थे। इस पेड़ का आम

भादो एवम् आश्विन मास में पकता है, आम बहुत दिनों तक फलता है, दुर्गा पूजा तक। खूब मीठा आम— और क्या सुगंध !' उसके बाद वातापी नींबू के पेड़ का परिचय देते हुए बोले कि, यह वातापी नींबू इतना मीठा है कि मानो चीनी इसमें मिला हुई है, भीतर में सफेद, पतला छिलका—प्रचुर फल देता है। इस नींबू के पेड़ को भी महाराज ने लगाया था। क्रम से बगीचे के अन्य पेड़ों का भी परिचय दिया। मुझे कुछ भी नहीं मालूम था। नाना प्रकार की बातों के माध्यम से वे मुझको यह कार्य सिखा रहे थे। रामकृष्णदेव के एक अंतरंग पार्षद का इतना घनिष्ठ परिचय और अंतरंग संग मेरे साधु जीवन के लिए विशेष प्रेरणा का स्रोत हुआ था। कार्य को सम्मान की दृष्टि से देखना और उसके माध्यम से ठाकुर की सेवा करना, यह सब मैंने उनसे सीखा। वे इतने सरल और सहज भाव से बातचीत करते थे कि, उनकी उस बालोचित सरलता ने मेरे अंतर को मुग्ध और द्रवीभूत कर दिया था। उनका आडंबर रहित अभिमानशून्य तथा सीधा-सादा जीवन देख कर किसी प्रकार से भी यह नहीं मालूम पड़ता था कि वे रामकृष्णदेव के एक विशिष्ट संन्यासी पार्षद हैं। उनके दांत नहीं थे, कृत्रिम दांत भी वे व्यवहार में नहीं लाते थे—उनका मुख शिशु के मुख की तरह आनंदोज्ज्वल तथा पवित्रता पूर्ण था। वे खूब हंसते थे। यह सरल दिव्य हंसी उनके अंतर के आनंद को प्रकट करती थी। वे बहुत सम्मानित वृद्ध और प्रवीण थे, फिर भी वे इन सब कार्यों को आनंद और स्वेच्छा से करते थे। यही मेरे विशेष विस्मय का कारण था। प्रायः डेढ़ दो घटे बगीचे में उन्होंने अनेक कार्य किये। कलम बांधते-बांधते बोले : 'यह सब कलम लग जायेंगे तब उनको विभिन्न आश्रमों में भेज सकूंगा। यह सब फल बांग्लादेश में नहीं हैं। महाराज ने विभिन्न स्थानों से ला कर यह सब पेड़ ठाकुर की सेवा के लिए बेलुड़ मठ में लगाये थे।— इत्यादि।

'मठ के सभी कार्य ठाकुर के हैं' :

दूसरे दिन प्रातः काल साधुओं के साथ मैं महापुरुषजी को प्रणाम करने के लिए ऊपर गया था। प्रणाम करके खड़े होते ही उन्होंने मुझे लक्ष्य करके कहा : 'देखो, तुम जितने दिन मठ में हो रोज थोड़ा-थोड़ा काम करो, उससे तुम्हारा कल्याण होगा। यह मठ ठाकुर का है। हम सभी उनके आश्रित दास हैं। मठ के सभी कार्य ठाकुर के कार्य है। मठ मन्दिर में पूजा-अर्चना करना जैसे उनकी सेवा है उसी प्रकार मठ के सभी कार्यों के द्वारा उनकी ही सेवा हो रही है। यहाँ ठाकुर साक्षात् विराजमान हैं।' यह कह कर के सामने एक साधु को लक्ष्य करके बोले : 'तुम दोनों समय इसको कुछ न कुछ काम में लगाना।' मैंने सिर झुका कर उनका आदेश ग्रहण किया तथा साधुओं के साथ नीचे चला आया, और इन साधुजी के निर्देश के अनुसार अन्य साधुओं के साथ सब्जी बगीचे और फूल के बगीचे में काम करने लगा। महापुरुषजी ने कृपा कर मुझको ठाकुर के काम में लगाया इसीलिए मैं उनके प्रति बहुत कृतज्ञ हूँ। इसके पहले मैं दोनों समय स्वतः ही कुछ बाल्टी पानी शौचालय के लिए भरता था। बेलुड़ मठ में उस समय खुले शौचालय का प्रचलन था। महापुरुषजी भी उसी शौचालय का व्यवहार करते थे। साधु लोग स्वतः ही कांवर द्वारा जल लेकर दोनों समय शौचालय के जलाशय को परिपूर्ण करते थे। साधुओं द्वारा लाये हुए जल से शौच जाना अच्छा नहीं लगता था, इसीलिए मैं गंगा से दोनों समय कुछ जल लाकर भरता था। महापुरुष जी द्वारा मठ के कार्य करने के लिए कहने के बाद मैंने इस जल भरने के कार्य को और बढ़ा दिया। इस समय मठ के सभी कार्य साधुगण स्वयम् ही करते

थे। केवल एक ही नौकर था जिसका मुख्य कार्य था भोगघर के बर्तन मांजना तथा रसोईघर के अन्य कार्य करना। बेलुड़ मठ में कुछ दिन निवास के माध्यम से मैंने साधुओं द्वारा स्वतः ही सब कार्य करते देख विशेषतः खोका महाराज को भी साधारण माली का कार्य स्वेच्छा से करते देख श्रम को सम्मान देना सीखा था। मेरे संघ जीवन के सब कार्यों के द्वारा संघरूपी ठाकुर की ही सेवा पूजा हो रही है बाद में यह समझने में मुझे सहायता मिली थी।

'महापुरुष जी का प्रेम : एक दृष्टान्त

मठवास के दसवें दिन प्रातः काल अनेक साधु महापुरुष महाराजजी के घर में एकत्र हुए हैं, मैं भी उनको प्रणाम करने के लिए गया था। प्रणाम करके एक तरफ खड़े होते ही उन्होंने मुझे लक्ष्य करके कहा। 'देखो, तुमको एक काम करना होगा, उमेश (मठ के एक ब्रह्मचारी) बार बार ज्वर से पीड़ित हो रहे हैं, इसीलिए हमलोग विचार कर रहे हैं कि उसको कुछ दिन के लिए घर भेज दें। तुम उसको अपने साथ ले जा कर घर पहुँचा दो। वह बेचारा इतना दुर्बल हो गया है कि उसको अकेले इतनी दूर जाने देना हम लोगों को ठीक नहीं लग रहा है। ज्वर से पीड़ित हो कर वह रक्तहीन और दुर्बल हो गया है। आज ही वह जायेगा, तुम भी उसके साथ जाओ।' उमेश महाराज पास में ही खड़े थे। उनको सम्बोधन कर के बोले : तुम इसलिए आज ही जाने के लिए तैयार हो जाओ, क्षितीन्द्र तुमको घर तक पहुँचा देगा। बाद में उन्होंने उमेश महाराज को घर पहुँचा कर खबर देने के लिए कहा और सावधानी के निर्देश दिये। उनकी प्रत्येक बात प्रेम और आंतरिकता से पूर्ण थी। उनकी वाणी में गंभीर उत्कण्ठा एवम् कल्याण कामना प्रकट हो रही थी। मैंने सिर नीचा कर उनका आदेश मान लिया। बोला : 'अच्छा ठीक है, मैं उनको यत्नपूर्वक घर पहुँचा दूंगा। रास्ते में कोई असुविधा न हो इसके लिये मैं सतर्क रहूँगा।' मैं केवल यही मन में सोच रहा था—आहा! वे साधुओं को कितना प्रेम करते हैं।

घर की ओर

बेलुड़ मठ में वास पूरा हुआ। मठ इतना अच्छा लग रहा था, महापुरुष महाराज का इतना स्नेह तथा प्रेम पाया था कि, मठ छोड़ने की बात सोचने से ही रोना आता था। विशेष रूप से इसी समय एक साथ महापुरुष महाराज, खोका महाराज, श्री श्रीमाँ, शरत् महाराज, राजा महाराज और हरि महाराज का दर्शन मेरे क्षुद्र जीवन की दुर्लभ तथा परम अक्षय आध्यात्मिक संपत्ति हुआ। साधु महाराज लोगों ने मुझे छोटे भाई की तरह कितना आदर और स्नेह दिया था कि, मठ छोड़ कर जाना होगा—इसी चिन्ता, इसी विचार ने सारे दिन मेरे समग्र मन का उदास और भारी कर दिया था। संध्या के पूर्व यात्रा का समय जितना नजदीक आ रहा था उतनी ही एक विराट शून्यता की अनुभूति समग्र मन-प्राण को पीड़ित कर रही थी। महापुरुषजी को छोड़ कर जाना होगा, यही अत्यन्त वेदना का कारण था। उनको देख नहीं सकूंगा - इसी विचार ने मेरे मन को उदास कर दिया था, अबाध अश्रुजल ही एकमात्र सहारा था।

संध्या के पूर्व हम लोग ठाकुर और महापुरुषजी को प्रणाम कर के उनका आशीर्वाद ले कर चल दिये। विदाई के समय महापुरुषजी का स्नेह सम्भाषण आवेगपूर्ण कण्ठ स्वर और उनकी सकरुण दृष्टि तथा मातृवत प्रेम मेरे समग्र मन प्राण को स्पर्श कर गये। स्वयं को मठ में रख कर केवल शरीर ले कर चल पड़ा।

श्रीरामकृष्ण की अंत्यलीला

—स्वामी प्रभानन्द
सहायक सचिव, रामकृष्ण मठ एवं मिश
अनुवादक—डॉ० नन्दिता भा

आज रविवार है। नवम्बर १८८५ ईस्वी। भक्त चुन्नीलाल बसु श्रीरामकृष्ण के कमरे में बैठे हैं। राखाल आदि सेवकगण भी वहीं हैं। मास्टर महाशय आये हैं। श्रीरामकृष्ण के पैरों की धूलि लेने के पश्चात् वे आपके बिछौने के पास बैठ गये। श्रीरामकृष्ण बीच-बीच में मास्टर महाशय के हाथों की ऊँगलियों को लेकर खेलने लगे। मास्टर महाशय ने डाक्टर सरकार से क्या बातचीत की वह श्रीरामकृष्ण जानने को उत्सुक थे। मास्टर महाशय—"डाक्टर साहब से मैंने कहा कि हिन्दू धर्म में ईश्वर को प्रणाम किया जाता है। मैंने उसी (ईश्वरीय) ज्ञान से आपको प्रणाम किया—आपमें नारायण हैं—क्या आप इस बात को स्वीकार करेंगे ?"

श्रीरामकृष्ण—"यह सुनकर (डाक्टर ने) क्या कहा ?"

मास्टर महाशय—"उन्होंने स्वीकार किया कि प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर हैं।"

मास्टर महाशय ने डाक्टर सरकार को कहा कि यदि ईश्वर का प्रकाश सभी मनुष्यों में है तो फिर श्रीरामकृष्ण को प्रणाम करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

डाक्टर—(प्रणाम करने से) "उनका अहंकार बढ़ जायगा।" अहंकार सम्पूर्ण रूप से समाप्त नहीं होता है। उसका एक सूक्ष्म अंश रह जाता है। इस बात को समझाने के लिए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "जिस प्रकार मेरा यह घाव अच्छा होकर भी एक आने भर रह गया है (वैसे ही) वह अहंक नहीं जाता है।" मास्टर महाशय ने डाक्ट सरकार को उत्तर दिया था, "हम लोगों विश्वास है कि उनको अहंकार नहीं होगा- यह हम सब अच्छी तरह जानते हैं।" अपनी वा की पुष्टि के लिए मास्टर ने पोप के सर्वशक्तिमा होने का तथा उनके व्यापक प्रभाव का उल्ले किया था।

इन बातों को सुनकर श्रीरामकृष्ण चुप रहे। आपने कुछ भी नहीं कहा। इसलिए मास्टर साहब सोचने लगे कि शायद उन्होंने (मास्टर महाशय ने) डाक्टर सरकार को ठीक से नहीं समझा है।

श्रीरामकृष्ण फिर से मास्टर महाशय के हाथ की उंगलियों से खेलते रहे।

चुन्नीबाबू (श्रीरामकृष्ण से)—"आपका बालक भाव है।"

कप्तान विश्वनाथ उपाध्याय आये हैं। वे उसी मुहल्ले में रहते हैं। परन्तु अभी तक श्रीरामकृष्ण को देखने नहीं आये थे। वे कलकत्ते में नेपाल के राज-प्रतिनिधि हैं। श्रीरामकृष्ण उन्हें कप्तान कहकर पुकारते हैं। पति-पत्नी दोनों ही भक्त हैं। कप्तान शास्त्रज्ञ पण्डित हैं। वे श्रीरामकृष्ण की बहुत भक्ति करते हैं।

कप्तान—"मैं अस्वस्थ था इसलिए अभी तक आ नहीं पाया था।" श्रीरामकृष्ण—"मैं सोचता

था कि अनाचार करने से मैं अस्वस्थ हो गया हूँ। तुम तो आचारी हो, तुम क्यों बीमार पड़ गये ?"

श्रीरामकृष्ण ने स्वेच्छाचारी केशवचन्द्र, गिरीश घोष आदि को आश्रयदान दिया था। रूढ़िवादी ब्राह्मण विश्वनाथ उसे आचार विरुद्ध मानते थे। उस ओर इशारा करके ही ठाकुर ने कप्तान से यह प्रश्न किया था।

कप्तान—"इसीलिए तो मैं दो दिन में ठीक हो गया हूँ।"

श्रीरामकृष्ण (कप्तान से) "मेरे में क्या कोई मलिनता आ गयी है ?"

कप्तान—"नहीं तुम्हारा अन्तःकरण पहले की तरह ही निर्मल है। केवल देह में व्याधि है।

मास्टर महाशय श्रीरामकृष्ण और कप्तान की बातें सुन रहे थे। उन्हें लगा कि श्रीरामकृष्ण कप्तान की परीक्षा ले रहे हैं।

कप्तान एक फूलों की नमूनादार कोट पहने हुए है। यह रजोगुण का लक्षण है। इसलिए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "यह सब अड़ंग-बड़ंग लग रहा है।"

कप्तान—"यह सब चीजें विषय वासना से आती हैं।

श्रीरामकृष्ण—"मन ही जानता है कि भावना किस प्रकार की है। ज्ञान और भक्ति पर बातचीत होने लगी।

श्रीरामकृष्ण—"श्रेष्ठ क्या है—ज्ञान या भक्ति?"

कप्तान—"कलियुग में भक्ति ही श्रेष्ठ है। ज्ञान रहता नहीं है। भक्ति से भी ज्ञान का उदय होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है, तेषाः सतत् युक्तानाः भजनाः प्रीतिपूर्वकम ददामि बुद्धि योगः तः येन गाम उपयान्ति ते।"

कप्तान की बातों को सुनकर श्रीरामकृष्ण की आँखें आँसु से भर आयीं। कप्तान शास्त्र के ज्ञाता हैं और साधक भी हैं।

श्रीरामकृष्ण—"विज्ञान क्या है ? और साक्षात्कार ?"

कप्तान—"जो।"

श्रीरामकृष्ण—"ज्ञान-विज्ञान किसे होता है ?"

कप्तान—"वही जान सकता है जिसको यह सब होता है।"

श्रीरामकृष्ण—"मुझे भक्ति चाहिए।"

श्रीरामकृष्ण—"यह सब किसी प्रकार से बहुत आगे पहुँचने पर होता है।" कुछ देर बाद श्रीरामकृष्ण ने कप्तान से पूछा, "मेरी भक्ति किस प्रकार की है ? हनुमान (की भाँति) ? साक्षात्कार के पश्चात् दासभाव ? कप्तान—"यह सब बातें हम लोग केवल अनुमान कर सकते हैं। मास्टर महाशय को लगा कि साधक कप्तान से यह सब स्वीकार कराने के लिए ही शायद श्रीरामकृष्ण ने इस प्रसंग पर बातें की।

ईसाई भक्त प्रभुदयाल आये हैं। वे पैंतीस वर्ष के होंगे। इस समय उन्होंने संसार त्याग दिया है। ये क्वेकर (Quaker) सम्प्रदाय के हैं। बाहर से तो साहबी वेश-भूषा धारण किये हुए हैं, परन्तु भीतर गेरुआ वस्त्र पहने हुए हैं। किसी ने पूछा कि ईसाई होकर वे गेरुआ वस्त्र क्यों पहनते हैं ? उन्होंने बताया कि उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ है। उन्होंने ईसा मसीह को ईष्ट-देव के रूप में ग्रहण कर लिया है। परन्तु उन्होंने पैतृक रीति-रिवाज नहीं छोड़ा। वे नित्य योगाभ्यास करते हैं और अपने हाथ से पकाकर हविष्यान्न खाते हैं। घर में रहकर साधन भजन के फलस्वरूप उन्हें ज्योति दर्शन होता है। उन्होंने ईसा मसीह का

दर्शन पाया। प्रभुदयाल ईसा मसीह और श्रीरामकृष्ण को ईश्वर मानते हैं।

प्रभुदयाल उत्तर-पश्चिम के किसी स्थान में तपस्या के लिए चले जाना चाहते हैं। इसलिए वे आज श्रीरामकृष्ण से विदा लेने आये हैं।

प्रभु दयाल (श्री रामकृष्ण से)—"फिर आप जब बुलायेंगे, तब आऊँगा।"

श्रीरामकृष्ण—"अच्छा, वह सब ईश्वर की इच्छा पर है।"

प्रभु दयाल विदा लेकर चले गये।

\+ \+ \+

गिरीश घोष, सुरेन्द्र नाथ मित्र, महिमा चक्रवर्ती तथा कुछ और भी भक्त ठाकुर के कमरे में उपस्थित है, सुरेन्द्र भक्तिमान हैं। उन्होंने "सुरेश्वरी वध" की कहानी पढ़ कर सुनायी। फिर उन्होंने ब्रह्म-उपासना का पाठ किया। पाठ करने के पश्चात् सुरेन्द्र ने कहा, "अन्त में माँ माँ ही कहता हूँ"।

श्रीरामकृष्ण—"आहा, किस प्रकार "माँ" को पुकारता है। इसमें बड़ी भक्ति है।"

श्रीरामकृष्ण ने "ईसामसीह की बात बतायी कि किस भाँति उन्होंने अपने एक शिष्य को पानी में डुबा के रखा था। जब शिष्य बेचैन हो रहा था, तब उन्होंने उसे पानी से उठाया और कहा कि इसी तरह ईश्वर के लिए बेचैनी होने पर उन्हें लाभ किया जा सकता है। श्रीरामकृष्ण ने एक दूसरे स्थान में कहा था—"एक व्यक्ति ने गुरु से पूछा—महाराज, ईश्वर को कैसे प्राप्त करूँ" बता दीजिए। गुरु ने कहा, आओ तुम्हें बता देता हूँ।" यह कहकर वे उसे एक तालाब के किनारे ले गये; दोनों जल में उतर पड़े। इतने में ही एकाएक गुरु ने शिष्य का सिर पकड़कर उसे जल में [illegible] रखा। फिर थोड़ी देर बाद उसे छोड़ [illegible] शिष्य सिर उठाकर खड़ा हो गया। गुरु ने [illegible] कहो, तुम्हें कैसा लग रहा था? शिष्य ने [illegible] ऐसा लग रहा था कि अभी प्राण जाते ही है, [illegible] बेचैन हो रहे थे। तब गुरु ने कहा, "ईश्वर [illegible] लिये जब प्राण उसी प्रकार बेचैन होगा, तब [illegible] कि अब उनके साक्षात्कार में विलम्ब नहीं है। [illegible] पूर्व दिशा में लालिमा फैलते ही सब जान जाते [illegible] कि अब सूर्योदय होने वाला है।" श्रीरामकृष्ण [illegible] "मेरे भाई लोग उस समय 12/13 वर्ष के [illegible] माँ ने गया जाने के लिए प्रस्थान किया। [illegible] लोग माँ के पीछे-पीछे चलने लगे और कहने लगे [illegible] "माँ हम लोगों को छोड़ कर कहाँ जा रही हो।" यह कहते हुए उनका आँचल पकड़ लिया—[illegible] को लौटना पड़ा"[3] यदि कोई ईश्वर को इस तरह से पुकारता है, तब तो वह उन्हें पा लेता है।

श्रीरामकृष्ण—"जो इस प्रकार से (ईश्वर को) पुकार सकता है, उसको वे मिलते हैं। (यह सुनकर) रोमांचित होता हूँ।"

इन बातों को सुनकर मास्टर महाशय भी रोमांचित हुए।

श्रीरामकृष्ण—"राजा बलि के दरबार में ब्राह्मणगण रोमांचित हुए थे और उनकी आँखों में आँसू आ गये थे। ब्राह्मण लोग कहने लगे, शायद योगेश्वर स्वयं आये हैं।"

रामचन्द्र दत्त आये हैं। कमरे में देवेन्द्रनाथ मजूमदार आदि कई एक भक्त उपस्थित हैं। गिरीश चन्द्र घोष ठाकुर के चरण-स्पर्श करने के लिये बढ़े। ठाकुर ने अपने चरणों को तनिक हटा लिया। गिरीश घोष बहुत बड़े भक्त हैं। उन्होंने करुण स्वर से कहा। "यह क्या, मुझे भी (चरण स्पर्श करने नहीं देंगे क्या)?"

विनोद प्रिय श्रीरामकृष्ण—"डाक्टर सरकार ने कहा है।"

इसी क्षण गिरीशचन्द्र ने श्रीरामकृष्ण के चरण-स्पर्श किये।

रामचन्द्र और देवेन्द्र एक साथ बोले -"आप बालक स्वभाव हैं। कब क्या करते हैं·····

श्रीरामकृष्ण ब्रह्मो नेता केशवचन्द्र सेन और काली मन्दिर के खजांची के बारे में कुछ व्यक्ति गत अनुभवों को बताने लगे। श्रीरामकृष्ण खजांची को कहा कि (केशव के यहाँ) केवल दो बंगले (खायी थी)।

दूसरी बार बोला—वहाँ नहीं खाऊँगा, नहीं तो वह काली मन्दिर में प्रवेश करने नहीं देगी। स्टीमर में जब आ रहा था तो रामलाल खाने के लिए कुछ खरीद लाया। दरबान के लोटे से पानी पीया—(खाते समय)—एक रेखा खींच ली—वे (केशव आदि) उधर में इधर। (एक बार) सब के साथ मिलकर पूड़ी और भाजी (खायी थी) पता नहीं घोड़ी या नाई किसने खाना परोसा होगा···।'

"देखा केशव घर के अन्दर स्त्रियों के बीच है। केशव मेरा हाथ पकड़कर नाचने लगा। केशव की माँ ने कुछ खिला दिया।"

बालक सदृश मणीन्द्र आये हैं। बाद में वह एक प्रसिद्ध चित्रकार बने थे। मणीन्द्र ने अपने संस्मरण में लिखा है, "जहाँ तक याद है सन् १८८५ ईस्वी के अक्टिबर के महीने के प्रारम्भ में मैं श्यामपुकुर गया था। वहीं ठाकुर के साथ मेरा प्रथम परिचय हुआ था। असल में दो या तीन मास पहले भी उन्हें एक बार दर्शन किया था। परन्तु परिचय नहीं हुआ था। अब इस परिचय के दूसरे दिन से ही मेरे जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया। उनके अकारण अपूर्व प्रेम को पाकर लगता है मानो उन्होंने मुझे अपनी गोद में बिठा लिया और (पुत्र समान) केवल एक चुम्बन देकर सदा के लिए मुझे अपना बना लिया है।·····मैं रोज ही बहुत सवेरे श्यामपुकुर मकान में चला जाता था। पूरे दिन मैं वहीं रहता था। शाम को राम दादा दफ्तर से लौटकर वहाँ आते थे। रात के नौ दस बजे राम दादा के साथ उनके शिमला स्थित मकान में लौट जाता था।"[4]

मणीन्द्र भाव के आवेग में एक कोने में खड़े रो रहे हैं। यह देखकर मास्टर महाशय मणीन्द्र को श्रीरामकृष्ण के सामने ले आये।

श्रीरामकृष्ण—"रोने से सुषुम्ना का रास्ता साफ हो जाता है। किसी-किसी का हँसते-हँसते हो जाता है·····इसका बन्द रह गया, मस्तिष्क तक पहुँच नहीं पाया।"

\+ \+ \+

स्कूल से लौटकर मास्टर महाशय श्यामपुकुर के मकान में आये हैं। ठाकुर के कमरे में जाकर उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण डाक्टर सरकार को (साधना के मार्ग की) आठ बाधाओं के बारे में बता रहे हैं। श्रीरामकृष्ण कह रहे हैं कि आठ प्रकार की बाधाओं में एक बाधा लज्जा भी है।

श्रीरामकृष्ण—(मैंने प्रार्थना की) हे ईश्वर यदि तुम मुझे मेहतर बनाते तो जंगल में छुपना नहीं पड़ता—शराब पीकर काली का भजन गाता।" डाक्टर सरकार ने इस बात का खण्डन कर कहा, "शराब पीने की क्या आवश्यकता है?" मास्टर महाशय को बोध हुआ कि श्रीरामकृष्ण अन्तर्यामी हैं। क्योंकि आप डाक्टर सरकार के मन की बात को समझ गये। श्रीरामकृष्ण ने डाक्टर सरकार को एक पुरानी घटना सुनायी—"नहीं, काली मन्दिर से मतवाले की तरह आ

रहा था। द्वारका बाबू ने कहा (परमहंस देव) शराब पीते हैं क्या ?"

डाक्टर सरकार कुछ रुखे-से थे। उन्होंने अभिमानी की भाँति कहा, मैं अब किसी से कुछ नहीं कहूँगा। सब लोग मुझ से नाराज हैं।" डाक्टर सरकार (श्रीरामकृष्ण से)—"इन लोगों ने आपके हाथी-नारायण और बाघ नारायण के उपदेश को भुला दिया है।"

डाक्टर सरकार (मास्टर से)—"तुम क्यों नहीं आये ?"

मास्टर महाशय—गिरीश बाबू गये थे।"

डाक्टर सरकार—गिरीश घोष यहाँ की खबर लेकर नहीं आया था। गिरीश घोष डाक्टर सरकार के सामने ही श्रीरामकृष्ण के चरणों की धूलि लेने के लिए आगे बढ़े। श्रीरामकृष्ण पाँच साल के बालक की तरह सावधान हो गये—मना किया और इशारे से डाक्टर को दिखाया।

डाक्टर सरकार – मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम लोग जो जी चाहे करो।

भाव भक्ति की बातों का जैसे सैलाब सा आ गया। शायद ही कट्टर तार्किक डाक्टर सरकार इन बातों का रसास्वादन कर पाये। अपने पहले के अनुभवों से जानकर कि अब क्या हो सकता है, डाक्टर सरकार मानो धैर्य खो बैठे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा—"जैसे ही तुम भावस्थ हो जाओगे मैं चला जाऊँगा। तुम्हारे प्रकृतिस्थ होने की प्रतीक्षा नहीं करूँगा।"

अब सुमधुर कण्ठ से नरेन्द्र गाने लगे। गाना ध्रुपद में था। सतीश वाद्य बजाने लगे। गाने के भाव और सुर ने कमरे के वातावरण को मधुमय बना दिया।

डाक्टर सरकार (श्रीरामकृष्ण से)—"भावस्थ नहीं होना।"

श्रीरामकृष्ण—"क्या करूँ। अपने आप हो जाता है।"

नरेन्द्र के बाद गंगाधर ने गाना गाया। गंगाधर के गाने को सुनकर डाक्टर सरकार ने कहा—"यह तो गाना नहीं—कविता पाठ है—यह (गाना) हिमालय के प्रति है।"

डाक्टर सरकार ने श्रीरामकृष्ण के नब्ज को देखा। डाक्टर सरकार—"नब्ज में तेजी है—गाना रहने दो—हम बहुत सारे लोग यहाँ हैं।"

गिरीश घोष "गाना गाने को मना कर दूँ ?"

डाक्टर सरकार चुप रहे। वे शान्त बैठे रहे। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—"मैं मना करने की नहीं कह रहा हूँ केवल मुझे जो कहना चाहिए था वही कह दिया।"

भावावेश को किंचित सम्भाल कर श्रीरामकृष्ण ने कहा, "क्यों-क्यों ···गाना ? गाने दो। सुनने से ही क्या मैं ·····?"

डाक्टर सरकार ने ठाकुर की नब्ज को दो बार देखा। दूसरी बार उन्होने देखा कि धड़कन कुछ स्वाभाविक हो रही है। डाक्टर दोकौड़ी आये हैं। उनके आते ही श्रीरामकृष्ण ने उन्हें नब्ज देखने के लिए कहा। डाक्टर दोकौड़ी ने नब्ज देखकर कहा, "बुखार नहीं है, सब ठीक है। अच्छा हो रहा है। परन्तु अब बहुत सावधानी से रहना चाहिए।"

श्रीरामकृष्ण (डाक्टर सरकार) की ओर देख कर सहास्य—"मैं ठीक हूँ, परन्तु देखते ही देखते श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये। मास्टर महाशय

और छोटे नरेन्द्र (एक साथ) कह उठे·····सब कुछ भुला दिया।"

डाक्टर सरकार—"मैं चला।"

(१) श्रीरामकृष्ण ने कप्तान के घर में १२ अप्रैल १८८२ में पदार्पण किया था।
(२) श्रीरामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग पृ.-५९८।
(३) १८४८ ईस्वी में अपने पति क्षुदिराम चट्टोपाध्याय के श्राद्ध के लिए चन्द्रामणि देवी गया धाम में जाने को प्रस्तुत हुई थी। उस समय ठाकुर के भाई रामेश्वर की उम्र २२ और ठाकुर के स्वयं की उम्र १२ थी।
(४) उद्बोधन, भाद्रपति १३४४ बंगाब्द, पृष्ठ ४५७।

●

अहिंसा परमो धर्मः

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

प्रस्तावना—मानव-जाति की हजारों वर्ष की संस्कृति और सभ्यता के बावजूद आज भय और हिंसा हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग बने हुए हैं। हमने इन्हें जीवन पद्धति का अनिवार्य और स्वाभाविक अंग मान लिया है। भले ही हम किसी की हिंसा न करते हों, लेकिन द्वेष, घृणा, दूसरों के दोष देखना आदि हमारे मन में विद्यमान हैं। युद्ध, हत्या और अपराध के समाचारों में हमारी तीव्र रुचि हमारी हिंसक प्रवृति की ओर स्पष्ट संकेत करती है।

लेकिन आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत में अहिंसा पर आधारित समाज रचना के दो महत्वपूर्ण प्रयोग हुए थे। वर्धमान महावीर द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म ने अहिंसा को जीवन का केन्द्र विन्दु मानकर मानवों की ही नहीं बल्कि छोटे से छोटे कीड़े तक की हत्या को त्याग कर मानव-जाति को विकास के एक उच्चतर सोपान तक उठाने का प्रयास किया था। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को अंगीकार कर अहिंसा को एक राजधर्म के रूप में स्वीकार किया था। लेकिन अहिंसा प्रधान जैन और बौद्ध धर्म के प्रभाव ने एक ओर जहाँ समाज को एक उच्चतर दिशा प्रदान की, वहीं दूसरी ओर उसने समाज को दुर्बल भी किया। अहिंसा उच्चतम आदर्श है और किसी भी समय किसी भी समाज में एक अल्पसंख्यक वर्ग ही उस उच्चतम आदर्श का अधिकारी और ग्रहण करने में समर्थ होता है। अनधिकारी तथा सारे समाज के द्वारा स्वीकार किये जाने के कारण भारत की अवनति ही हुई जिसके फलस्वरूप भारत को हजार वर्षों की दासता सहन करनी पड़ी।

पातंजल योग सूत्र के अनुसार अहिंसा पाँच यमों में पहला और सबसे महत्वपूर्ण है। वैसे तो अष्टांग योग का एक अंग होने के कारण अहिंसा एक साधन मात्र है। लेकिन यह इतना महत्वपूर्ण

है कि इसे यदि लक्ष्य एवं परम धर्म मानें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। व्यास देव के अनुसार अन्य सभी यम नियम का मूल अहिंसा ही है, तथा वे अहिंसा की सिद्धि के हेतु होने के कारण अहिंसा प्रतिपादन के लिए ही शास्त्र में प्रतिपादित हुए हैं। सभी धर्मों में इसे महत्व दिया गया है, तथा अहिंसा को किसी न किसी प्रकार से अपने जीवन में स्थान दिये बिना धार्मिक जीवन संभव ही नहीं है। अतः इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त एवं जीवन के अनिवार्य अंग को भलीभाँति समझ लेना परम आवश्यक है।

अहिंसा का अर्थ—सामान्यतः हिंसा का अर्थ है दूसरे को मारना, या कष्ट पहुँचाना और अहिंसा का अर्थ है किसी को कष्ट न पहुँचाना। व्यास के अनुसार अहिंसा का अर्थ है : सर्वथा सर्वदा सर्व-भूतानां अनभि दोहः "—अर्थात् सर्वथा, सदा सभी प्राणियों के प्रति सभी प्रकार के द्वेषद्रोह भाव का त्याग।

अहिंसा मूलक जैन धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर कहते हैं—'जिसे तू हनन करने योग्य मानता है वह तू ही है, जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है।" जीव का वध अपना ही वध है। जीव की दया अपनी ही दया है। अतः आत्म हितैषी पुरुषों ने सभी तरह की जीव हिंसा का परित्याग किया है।" प्राणि हत्या करना स्वयं की हत्या के समान है, इस बात की प्रतिध्वनि ईशावास्योपनिषद् में भी मिलती है—

असूर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तां स्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः॥

अर्थात् आत्मा का हनन करने वाले लोग मरणोपरान्त अन्धकार से आवृत लोकों को जाते हैं। जो अज्ञानी लोग अपने अद्वय आत्मस्वरूप को नहीं जानते वे मरणोपरान्त पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करते हैं—तथा पुनः-पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अर्थात् वे बार बार अपनी ही मृत्यु का कारण बनते हैं। देहात्मबोध के कारण हम स्वयं को दूसरों से पृथक समझते हैं तथा उसके कारण राग द्वेषादि उत्पन्न होते हैं। जहाँ द्वैत है, दो हैं, वहीं भय है—द्वितीया द्वै भयम् भवति। भगवान महावीर का कथन है, राग आदि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा है तथा उनकी उत्पत्ति हिंसा है।

"अप्रादुर्भावः खलु राग दीनां भवत्यहिंसोति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

तात्पर्य यह कि अद्वैत में प्रतिष्ठित होकर रागादि को जीते बिना अहिंसा में प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार भी हम कुछ इसी प्रकार के निष्कर्ष पर आते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर का जन्म तथा मृत्यु उसके सुख-दुःख सभी प्रारब्ध कर्म के अधीन होते हैं। अतः यदि कोई किसी की हत्या करता है, अथवा किसी को कष्ट पहुँचाता है, तो कर्म सिद्धान्त के अनुसार इसके पीछे पूर्व जन्मों के कर्म ही उत्तरदायी हैं; तथा भविष्य में हिंसक अथवा कष्ट देने वाले को इसका फल भोगना होगा। कहा भी गया है :

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।
परो ददातीति कुबुद्धि रेषा॥
अहं करोमोति वृथाभिमान।
स्वकर्म सूत्रेण ग्रथितोहिलोकः॥

अर्थात् सुख और दुःख का दाता अन्य कोई नहीं है। यह सोचना कि दूसरा सुख-दुःख प्रदान करता है कुबुद्धि है; मैंने ऐसा किया है, यह व्यर्थ का अभिमान है। वस्तुतः सभी स्वकर्म के सूत्र द्वारा बँधे हैं। तात्पर्य यह कि कर्मवाद के अनुसार पर हिंसा जैसी कोई चीज नहीं है। दूसरे को मारने से स्वयं की ही हानि होती है। यदि किसी व्यक्ति या पशु को बाँधकर उसकी शक्ति का हनन किया

जाय तो इसके परिणाम स्वरूप बंधनकर्त्ता की इन्द्रियां निस्तेज हो जाती हैं। दूसरों को दुःख प्रदान करने पर नारकीय दुःख प्राप्त होता है, तथा दूसरे का प्राण हरने से या तो व्यक्ति अल्पायु होता है, अथवा दीर्घायु होने पर भी रुग्ण होता है। इस तरह दूसरे को कष्ट देने पर हम वस्तुतः स्वयं को कष्ट देने की ही भूमिका तैयार करते हैं।

विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो भी पूर्ण अहिंसा संभव प्रतीत नहीं होती। शरीर धारण के लिए न्यूनाधिक मात्रा में हिंसा को स्वीकार करना ही पड़ता है। श्वास-प्रश्वास में असंख्य कीटाणु मरते हैं; चलने-फिरने में भी छोटे-मोटे अनेक कीड़े-मकोड़े पैरों तले कुचल जाते हैं; वनस्पतियों में भी प्राण होता है तथा उसका भोजन भी एक प्रकार की हिंसा है। वस्तुतः जीवन धारण में एक प्राणी दूसरे को आहार बनाकर ही जीवित रहता है—यह प्रकृति का विधान है। अतः व्यावहारिक, भौतिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा असंभव है। जो साधक इस सत्य को समझ लेते हैं—पूर्ण रूप से आत्मसात कर लेते हैं, तथा स्वयं के अस्तित्व के लिए प्राणि हिंसा नहीं चाहते, वे जितना शीघ्र हो, संसार बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं; जिससे पुनः जन्म न लेना पड़े और न ही दूसरे प्राणियों की हिंसा करनी पड़े। वे भोग के स्थान पर योग का आश्रय लेते हैं—जो क्रमशः अल्प से अल्पतर हिंसा का मार्ग है। अहिंसा के सन्दर्भ में योग का अर्थ है—न्यूनतम हिंसा का जीवन।

स्वयं की आत्मा ही समस्त प्राणियों की आत्मा है, इस सत्य का साक्षात्कार करना ही जीवन का उद्देश्य है और जो योगी समस्त प्राणियों के सुख-दुःख अपने सुख-दुःख के रूप में अनुभव करता है, वह गीता के अनुसार सर्वोत्तम योगी है।

सर्व भूतस्थ मात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

एक संन्यासी के जीवन का चरम आदर्श इसी सत्य की उपलब्धि करना है। वह समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करता है, क्योंकि सभी प्राणी उसी के अंग हैं। अभयं सर्वभूतेषु मनः सर्वं प्रवर्तते।" यही कारण है कि किसी प्राणी की हिंसा करना साध्य के विरुद्ध होने से त्याज्य है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार अन्याय का प्रतिकार न करना" Resist not Evil संन्यास का आदर्श है, क्योंकि अन्याय करने वाला भी उसी का एक रूप है।

अहिंसा के इस उच्चतम रूप को कुछ दृष्टान्तों के द्वारा समझा जा सकता है। एक कृशकाय तपस्वी सूफी सन्त मांस की एक दुकान के सामने से गुजरते हुए क्षण भर के लिए वहीं खड़े हो गये। उन्हें देखकर मुसलमान दुकानदार ने सलाम किया और कहा कि क्या वे मांस लेंगे। सन्त ने कहा कि उन्हें मांस की आवश्यकता नहीं है। दुकानदार ने प्रतिवाद करते हुए कहा, "जनाब, आपके शरीर में मांस बिल्कुल नहीं है, आपको तो मांस की जरूरत है, क्योंकि मांस से ही मांस बनता है। सूफी सन्त ने क्षण भर रुक कर उत्तर दिया, "मेरी देह में जितना मांस है, उतना कब्र के कीड़ों के लिए काफी है।" और वे आगे बढ़ गये। उन सन्त के लिए स्वयं की देह कब्र के कीड़ों की देह से अधिक मूल्यवान नहीं रह गयी थी।

श्रीरामकृष्ण ने भी सर्वात्मैकत्व के अनुभव के फलस्वरूप स्वयं की रुग्ण देह को स्वस्थ करना अस्वीकार कर दिया था। घटना उस समय की है जब वे गले के कैंसर से पीड़ित थे तथा उसके

कारण कुछ भी खा पी नहीं सकते थे। गले में तीव्र पीड़ा होती थी तथा शरीर धीरे-धीरे दुर्बल होता चला जा रहा था। वे गले के रोग-ग्रस्त अंश पर मन को एकाग्र करके उसे ठीक करने की संभावना को उन्होंने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि जो देह माँ जगदम्बा को अर्पित की जा चुकी है, उस पर वे मन को एकाग्र नहीं कर सकते। लेकिन भक्तों के अत्यधिक आग्रह को वे अस्वीकार नहीं कर सके और उनके आग्रह पर उन्होंने मां जगदम्बा से प्रार्थना की कि गले को थोड़ा ठीक कर दें जिससे कि वे कुछ खा सकें। माँ जगदम्बा ने जो उत्तर दिया वह वस्तुतः श्रीरामकृष्ण की उच्चतम अद्वैत ज्ञान में प्रतिष्ठा का द्योतक है। मां जगदम्बा ने सभी भक्तों को दिखाकर कहा कि तू इतने मुखों से तो खा रहा है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुष सर्वत्र अपनी ही आत्मा का दर्शन करने के फलस्वरूप स्वयं की देह की विशेष सेवा सुश्रूषा की इच्छा नहीं करते। वे केवल लोक कल्याण के लिए अल्पतम हिंसा को स्वीकार कर देह धारण करते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से दो बातें स्पष्ट हो गयी होंगी। प्रथम तो यह कि हिंसा करने से स्वयं की हिंसा होती है, और परहिंसा जैसी कोई चीज नहीं है; और द्वितीय यह कि अहिंसा के तीन स्तर सम्भव हैं।(1) पारमार्थिक अर्थात् सर्वभूतात्मानुभूति में प्रतिष्ठित होना, (ii) मानसिक-याने राग-द्वेष से रहित होना और (3) व्यावहारिक जो वाचिक और शारीरिक इन दो प्रकार की हो सकती है। पारमार्थिक अहिंसा साध्य है तथा अन्य दो साधन है। मानसिक अहिंसा को भाव अहिंसा भी कहा जाता है, और वाचिक और शारीरिक हिंसा अथवा अहिंसा, द्रव्य हिंसा अथवा द्रव्य अहिंसा के नाम से भी अभिहित होती है। इसके अतिरिक्त अहिंसा के नकारात्मक तथा विधेहात्मक, इस तरह दो पक्ष भी हो सकते हैं। किसी को कष्ट न देना, हत्या न करना, किसी से द्वेष घृणा न करना नकारात्मक पक्ष है, जबकि दूसरों की सेवा, प्रेम, करुणा, मैत्री की भावना का विकास करना आदि विधेहात्मक पक्ष के अन्तर्गत आते हैं। जिस समाज में अहिंसा का पालन तथा सर्वात्मभाव की प्रतिष्ठा जितनी अधिक होगी वह समाज उतना ही अधिक विकसित समाज कहलायेगा।

पारमार्थिक अहिंसा के आदर्श को समझने एवं स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। उसी तरह मानसिक अहिंसा अर्थात् घृणा, राग, द्वेष के त्याग के विषय में विवाद संभव नहीं है। लेकिन स्थूल बाह्य हिंसा, अथवा शारीरिक, व्यावहारिक स्तर पर हिंसा और अहिंसा का क्या रूप होना चाहिए, इस विषय को लेकर मतभेद है। एक मत के अनुसार पारमार्थिक अहिंसा में प्रतिष्ठित व्यक्ति किसी भी प्रकार की हिंसा क्यों न करे, वह हिंसा नहीं कही जा सकती, जैसा कि गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था। दूसरा मत कहता है कि जो व्यक्ति अहिंसा में प्रतिष्ठित है, वह बाह्य हिंसा का त्याग क्यों न करे। यही नहीं, अगर कोई व्यक्ति ठीक-ठीक पारमार्थिक अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाय तो उससे किसी की हिंसा संभव ही नहीं है। वह प्राणियों की हिंसा करने के बदले अपने शरीर का त्याग श्रेयस्कर ही समझेगा। यह मत राम और कृष्ण जैसे शस्त्रधारी महापुरुषों को पूर्ण विरक्त शुकदेवादि की तुलना में निम्न कोटि का समझता है।

हिंसा का अर्थ

जिस प्रकार अहिंसा को एक व्यापक दृष्टि से देखा जा सकता है उसी प्रकार व्यापक अर्थों में हिंसा के भी कई रूप हो सकते हैं। शास्त्रकारों ने हिंसा "प्राण वियोगानुकूल व्यापार", "प्राण वृत्तिच्छेद" आदि पदों द्वारा समझाने का प्रयत्न

किया है। वृत्ति का अर्थ है वह व्यवसाय या क्रिया जिससे कमाई कर हमारी जीविका चलती है। वृत्तिच्छेद का अर्थ है उस कमाई या पोषण का मार्ग बन्द कर देना। यथा, वृक्ष को काटने के बदले उसकी जड़ से मिट्टी, जल, खाद आदि हटा देना—इससे पेड़ को काटा तो नहीं वह स्वयं बिना आहार के मर गया। अथवा किसी जानवर को तलवार से नहीं मारना, पर उसके नाक मुँह आदि बन्द कर देना, अथवा किसी अपराधी को पत्थर से बाँधकर पानी में डुबो देना जिससे वह वायु के अभाव में मर जाये। इसी भाव का थोड़ा विस्तार करने पर देखेंगे कि किसी व्यक्ति की नौकरी छीन लेना अथवा ऐसी सामाजिक परिस्थिति कर देना जिससे आजीविका उपार्जन कठिन हो जाये, हिंसा के अन्तर्गत आ जायेंगे।

सामान्यतः यदि हमारी कोई लापरवाही या प्रमाद से कष्ट पाये या मृत्यु को प्राप्त हो, उसे हिंसा नहीं मानते। यथा सड़क पर कोई व्यक्ति छटपटाता पड़ा है और हम उसे देखते हुए भी उठाकर अस्पताल ले जाने के बदले उपेक्षा करके वहीं छोड़कर चले जायें और यदि वह मर जाये तो मृत्यु का दोष लगेगा। यदि हम एक ऐसे समाज में रहते हैं जो हिंसा एवं मानव उत्पीड़न को प्रोत्साहित करता है, और फिर भी उसके विरुद्ध बोलते तक नहीं, तो प्रकारान्तर से हम उसका अनुमोदन ही करते हैं।

उपर्युक्त व्यापक दृष्टि से विषय का अवलोकन करने पर यह समझना आसान हो जाएगा कि अहिंसा को पंच यमों में क्यों प्रमुख स्थान दिया गया है तथा सत्यादि भी अहिंसा के अंग क्यों माने गये हैं। सत्य का अर्थ है असत्य भाषण कर दूसरे को कष्ट न देना। अस्तेय अर्थात् दूसरे के सत्त्व का हरण कर उसे कष्ट न देना।

परिग्रह का अर्थ—

जिन वस्तुओं पर दूसरों की दृष्टि है, वह मेरे द्वारा भोगी जाये यह भाव तथा आवश्यकता से अधिक संग्रह करना। संसार में भोजन का एक भी ऐसा कौर नहीं है, जिस पर मक्खी, चींटी, चिड़ियाँ आदि की दृष्टि न हो इतना होते हुए भी जो इनका संग्रह करता है, वह हिंसा करता है।—अतः इससे विरत होना अपरिग्रह है। इसी तरह दूसरे को भोग्य न समझना एवं भोक्तृत्व की हिंसा न करना ही ब्रह्मचर्य है। दुर्भाग्य यह है कि अनादि काल से जीवन के लिए संघर्ष में रत मानव के लिए हिंसा स्वाभाविक हो गयी है—उसे सीखना नहीं पड़ता। लेकिन अहिंसा के लिए शिक्षा आवश्यक है, एवं हिंसा के त्याग द्वारा अहिंसा के संस्कारों को दृढ़ करना आवश्यक है।

अहिंसा की साधना—अहिंसा के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या का उद्देश्य उसकी साधना के प्रकार तथा उपायों को भलिभाँति समझना है। जैसा कि कहा जा चुका है, अहिंसा के तीन स्तर हैं: पारमार्थिक, मानसिक और शारीरिक। पारमार्थिक अहिंसा लक्ष्य है, एवं मानसिक और शारीरिक अहिंसा उस लक्ष्य को पाने के उपाय। इन उपायों में मानसिक अहिंसा या भाव अहिंसा शारीरिक या द्रव्य अहिंसा से अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि मन से अहिंसक अथवा शान्त हुए बिना बाह्य जीवन में हिंसा का सम्यक् त्याग संभव नहीं है।

भाव अहिंसा या मानसिक अहिंसा की साधना—

(1) सर्वत्र ब्रह्म दर्शन का अभ्यास—इस पारमार्थिक सत्य का बार-बार विचार द्वारा मन में बिठाने का प्रयत्न करना चाहिए तथा लौकिक व्यवहार के समय मन में इस बात का स्मरण करते रहना चाहिए कि सर्वत्र एक ही परमात्म

सत्ता विद्यमान है, जो मेरी आत्मा से अभिन्न है। पारमार्थिक सत्य पर सीधे आधारित हुए भी यह साधना आसान नहीं है। अतः इससे उतरकर कुछ निम्न स्तर पर मन से हिंसा तथा हिंसा सम्बन्धित भावों को त्यागने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(2) **वैर त्याग की साधना**—मानसिक स्तर पर अहिंसा वैर, घृणा इत्यादि के रूप में अभिव्यक्त होती है। वैर भी पर-पात्र के भेद से चार प्रकार का होता है। जिसके सुख में हमारा स्वार्थ नहीं रहता या जिसके सुख से हमारे स्वार्थ का व्याघात होता है, उसको सुखी देखने से उनका चिन्तन करने से साधारण चित्त प्रायः ईर्ष्यालु होते हैं। उसी प्रकार शत्रु आदि को दुखी देखने से निष्ठुर हर्ष उमड़ता है। जो हमारे अपने मतानुसारी नहीं हैं पर पुण्यकर्मा हैं, ऐसे व्यक्तियों की प्रतिष्ठा आदि देखने से या चिन्तन करने से मन में असूया या अमुदित भाव आते हैं और जो पुण्यकर्मा नहीं हैं उनके प्रति (यदि स्वार्थ नहीं रहे तो) अमर्ष या क्रुद्ध तथा पिशुन भाव उठते हैं। इस प्रकार ईर्ष्या, निष्ठुर हर्ष, अमुदिता तथा क्रुद्ध पिशुन भाव हिंसा या वैर के ही चार प्रकार हैं। इन्हें सुखी के प्रति मैत्री भाव, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यात्मा के प्रति मुदिता या प्रसन्नता की भावना तथा अपुण्यात्माओं की उपेक्षा के द्वारा दूर करना चाहिए। इन भावनाओं को दृढ़ करने वाली अनेक प्रार्थनायें सभी धर्मों में प्रचलित है, तथा उनका प्रतिदिन पाठ कर इन भावनाओं को मन में दृढ़ करना मानसिक अहिंसा की साधना का अंग है। यह भाव निम्न श्लोक में सुन्दर रूप से व्यक्त हुआ है :

सत्त्वेषु मैत्रीः गुणिषु प्रमोदः
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव॥

परदोष दर्शन, प्रतिस्पर्धा, दूसरे को पीछे छोड़कर आगे निकल जाने की इच्छा एवं प्रयत्न, ये भी हिंसा के ही अंग हैं। ये आज के युग में जीवन के अनिवार्य अंग बन गये हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम यह स्वीकार करें कि ये अहिंसा के विरोधी हैं तथा इन्हें प्रोत्साहन प्रदान न करें। दूसरों के गुणों में दोष देखना असूया कहलाता है पर—गुणेषु दोषाविष्कारम्॥ और अनसूया का अर्थ है—न गुणान गुणिनो हन्ति स्तोति चान्यगुणानपि। न हसेच्चान्य दोषाश्च सानसूया प्रकीर्तिता। अर्थात् दूसरे के गुणों का हनन न करके उनको स्तुति करना तथा दूसरे के दोषों की हंसी न उड़ाना अनसूया कहलाता है।

अहिंसा से सम्बन्धित भावनाएँ—

मैत्र्यादि चतुर्भावनाओं को अतिरिक्त मानसिक अहिंसा की साधना के लिए हिंसा वृत्ति के दोषों को देखकर उसके प्रति त्याज्य बुद्धि प्रबल बनाना आवश्यक है। कृत, कारित, वांछित और अनुमोदित, हिंसा इन चार प्रकार को हो सकती है। पुनः लोभ, मोह और क्रोध पूर्वक ये चारों प्रकार की हिंसाएँ त्रिविध प्रकार की होती है। चाहे कैसी भी हिंसा हो, अपरिहार्य कर्म सिद्धान्त के कारण दुःखदायक होती है। वन्धनादि द्वारा किसी के वीर्य का नाश करने के फलस्वरूप हिंसक के मन और इन्द्रियाँ दुर्बल वीर्यहीन हो जाती हैं। दूसरों को दुःख प्रदान करने के कारण हिंसक को नरक, तिर्यंग आदि योनियों में दुःख सहन करना पड़ता है, और किसी प्राणी के प्राण नाश करने के फलस्वरूप हिंसक या तो स्वयं अल्पायु होता है, अथवा दीर्घायु होकर भी बहुत समय तक रुग्ण रहकर मृत्यु तुल्य कष्ट भोगता है। इस प्रकार हिंसा के दुष्परिणामों का चिन्तन कर उसके प्रति त्याग बुद्धि दृढ़ करना चाहिए।

इसी प्रकार अहिंसा के गुण का चिन्तन करना

चाहिए। अहिंसा में ही सुख और शान्ति है, तथा समाज की व्यवस्था का आधार भी अहिंसा है। इस विचार को दृढ़ करना चाहिए। हिंसा अपरिहार्य होते हुए भी जीवन का आधार या दिशा निर्देशक नहीं हो सकती। अहिंसा सभी नैतिकता, सभी धर्मों का मूल है, तथा वही धर्म का शाश्वत, शुद्धतम रूप है। वस्तुतः अहिंसा कोई गुण विशेष नहीं—वह तो अनेक गुणों की समष्टि है। शान्ति, प्रेम, करुणा, दया कल्याण मंगल, अभय, रक्षा, क्षमा, प्रमाद आदि सभी गुण अहिंसा के ही पर्याय एवं अंग-प्रत्यंग हैं। प्रेम, आत्मीयता, त्याग, समता, करुणा, अहिंसा के आधार हैं। सभी प्राणियों के प्रति समभाव से व्यवहार करना यही अहिंसा है। सभी मानवों, प्राणियों को शान्तिपूर्ण जीने का अधिकार है, अतः जहाँ भी जीवन है, उसका आदर करना अहिंसा का ही रूप है। यही नहीं व्यावहारिक स्तर पर सहयोग एवं सहायता के बिना जीवन ही संभव नहीं। अतः सह-अस्तित्व के लिए भी अहिंसा अपरिहार्य है। भले ही हिंसा का पूर्णरूपेण परित्याग संभव न हो, तो भी यह तो निश्चित है कि जितनी कम हिंसा हो, उतना ही जीवन श्रेष्ठतर होगा—Less killing is better living." साधना में प्रवृत्त हुआ त्यागी साधक समस्त प्राणियों को संकल्प द्वारा अभय प्रदान करता है। अगर किसी संयोग अथवा कारणवश उसे हिंसा में प्रवृत्त होना पड़े, ऐसा कार्य करना पड़े जिससे दूसरे को कष्ट हो तो उसे इसके लिए पश्चाताप करना चाहिए। "धिक्कार है मुझे कि मैं समान प्राणियों को अभय-प्रदान करने के बाद पुनः इसके विपरीत कार्य कर रहा हूँ। इस तरह स्वयं को कोसना, अहिंसा की भावनाओं को मन में बैठाने में अत्यन्त उपयोगी है।" मैं अभी तक अहिंसा में प्रतिष्ठित नहीं हो सका यह सोचकर क्षोभ करना चाहिए तथा किसी भी स्थिति में हिंसा का अनुमोदन नहीं करना चाहिए। वर्तमान समय में जब हिंसा की सर्वत्र वृद्धि हो रही है तथा उसे अनिवार्य एवं आवश्यक माना जाने लगा है, अहिंसा एवं सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों पर से लोगों की आस्था हटती जा रही है, ऐसी स्थिति में पुनः अहिंसा के प्रति आदर स्थापित करने के लिए उपर्युक्त भावना करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : There is no justifiable killing and there is no righteous anger, अर्थात्

व्यावहारिक स्तर पर अहिंसा की साधना—जैसा कि कहा जा चुका है, पूर्ण अहिंसा एक उच्चतम आदर्श है, जिसका पालन व्यावहारिक दैनान्दिन जीवन में लगभग असम्भव है। अतः न्यूनतम हिंसायुक्त जीवन यापन करना ही अहिंसा की साधना का व्यावहारिक रूप है। इस दृष्टि से हिंसा के चार प्रकार किये जा सकते हैं (1) संकल्पी (2) विरोधी (3) उद्योगी (4) आरंभी।

संकल्पी—संकल्प पूर्वक, मानसिक उत्तेजना सहित तथा जान बूझकर दूसरे का अकल्याण करने के उद्देश्य से की गयी हिंसा संकल्पी कही जाती है।

2 **विरोधी**—स्वयं तथा स्वयं से सम्बन्धित लोगों की निरीह, निरपराध की रक्षा के लिए जिस हिंसा को स्वीकार किया जाता है, वह विरोधी हिंसा कहलाती है। धर्मयुद्ध इसी के अन्तर्गत आते हैं।

3 **उद्योगी**—खेती वाडी, व्यवसायादि में अनिवार्य रूप से युक्त हिंसा को उद्योगी हिंसा कहा गया है।

4. **आरंभी**—जीवन-निर्वाह के साथ जुड़ी हुई हिंसा,यथा-मकान साफ करने, भोजन पकाने, कपड़े धोने आदि में होने वाली हिंसा।

संकल्पी हिंसा का त्याग तो सर्वदा सर्वथा किया ही जाना चाहिए। बाकी तीन प्रकार की

हिंसाएं पूरी तरह से त्यागी नहीं जा सकतीं। उन्हें यथासंभव कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि निरपराध और असम्बद्ध व्यक्ति या प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे।

अन्य यम-नियमों का अनुष्ठान—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, निम्नलिखित यम नियमों में अहिंसा सर्व प्रथम एवं प्रमुख है, तथा ये सारे यम नियम, अहिंसा की सिद्धि के लिए ही हैं। यह भी बताया जा चुका है कि असत्य, परिग्रह, चोरी तथा अब्रह्मचर्य प्रकारान्तर से हिंसा के ही रूप हैं। अतः इनका त्याग एवं सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य का पालन करना अहिंसा के ही रूप हैं। वस्तुतः समस्त आध्यात्मिक साधनाएँ अहिंसा के लक्ष्य की ओर ले जाने वाली ही हैं। एक सरल शान्त, पवित्र अनाडंबर-युक्त जीवन व्यतीत करना अहिंसक होने के लिए परमावश्यक है। विशेषकर आधुनिक काल में जब हमारे जीवन निर्वाह के लिए तथा सुख-सुविधा आदि के लिए अन्य प्राणियों को कष्ट देना अवश्यंभावी हो गया है।

अहिंसा का विध्यात्मक पक्ष—अहिंसा का अर्थ केवल किसी की हत्या न करना या कष्ट न पहुँचाना मात्र नहीं है, उसका एक भाव रूप, विध्यात्मक पक्ष भी है। सभी पर दयालु भाव रखना तथा पर-पीड़ा-निवृति भी अहिंसा के ही रूप हैं। अतः सेवा, दान आदि द्वारा दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करना भी अहिंसा का ही प्रकार है।

अहिंसा एक व्रत के रूप में—जैन धर्म में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। जैन गृहस्थ एवं संन्यासी अनेक व्रतों का पालन करते हैं। जिनमें अहिंसा व्रत सर्वथा महत्वपूर्ण है। संन्यासी कृत, कारित और अनुमोदित, मन वचन एवं शरीर से की गयी सभी हिंसा का पूरी तरह त्याग करता है। अर्थात् शरीर मन या वाणी से न किसी की हिंसा करना या कष्ट पहुँचाना, न ऐसा करवाना और न किसी के द्वारा किये गये का अनुमोदन करना। जब इस प्रकार का आचरण जाति, देश, काल और समय के द्वारा अनवच्छिन्न होता है, तब महाव्रत कहलाता है।

जाति देशसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम्॥"

इसे समझना आवश्यक है। जाति अवच्छिन्न अहिंसा का उदाहरण है—मछुओं की मत्स्यगत हिंसा और अन्य जातिगत अहिंसा (अर्थात् उनकी हिंसा यदि केवल आजीविकार्थ मत्स्यों तक सीमित रहे, और अन्यत्र वे अहिंसक रहें तो यह जाति अवच्छिन्न अहिंसा होगी। इसी प्रकार देशावच्छिन्न अहिंसा है—"तीर्थ में हनन नहीं करूँगा इत्यादि।" कालावच्छिन्न अहिंसा है चतुर्दशी या किसी पुण्य दिन में हनन नहीं करूँगा" इत्यादि। यह अहिंसा समयावच्छिन्न भी हो सकती है, जैसे "देव ब्राह्मण के लिए हिंसा करूँगा अन्य किसी प्रयोजन से नहीं।" समय का अर्थ कर्तव्य के लिए नियम भी हो सकता है। जैसे अर्जुन ने क्षत्रिय कर्तव्य की दृष्टि से युद्ध किया था। इस तरह जाति, देश, कालादि द्वारा अवच्छिन्न न होकर जो अहिंसा सर्वथा, सर्वदा, सर्वावस्था में पालन की जाती है, वही श्रेष्ठ है, तथा महाव्रत कहलाती है। योगी जन इसी का पालन करते हैं।

जहाँ तक गृहस्थों का प्रश्न है, उनके लिए महाव्रत संभव न होने के कारण वे आंशिक रूप में, क्रम पूर्वक, अधिकाधिक कठोर व्रत स्वीकार कर अहिंसा का पालन करते हैं। जान बूझ कर किसी भी प्राणी की शरीर से हिंसा नहीं करूँगा, "भले ही हिंसा करवानी पड़े या अनुमोदन करना पड़े। अथवा वाणी से कटु वचन बोलना पड़े।" इस प्रकार का व्रत अणु व्रत कहलाता है। वस्तुतः इस प्रकार के अपवादयुक्त व्रत तो दुर्बल मानवों के लिए राहत

प्रदान करने जैसे हैं, एवं क्रमशः हिंसा वृत्ति को त्याग कर पूरी तरह अहिंसक बनाने की दिशा में प्रथम कदम मात्र हैं। जाति, देश, कालादि के भी अपवाद उपर्युक्त रीति से स्वीकार किये गये है।

अहिंसा-साधना की समस्याएं—जैसा कि प्रारंभ में कहा जा चुका है, अन्य यमों की तरह अहिंसा के भी दो रूप हैं; एक साध्य और एक साधन। साध्य के रूप में अहिंसा का अर्थ है सर्व प्राणियों में आत्मा का दर्शन करना, सत्य का अर्थ है, ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत मिथ्या है, इस सत्य में प्रतिष्ठित होना, ब्रह्मचर्य का अर्थ है सदा ब्रह्मस्वरूप में विचरण करना इत्यादि। लेकिन साधन के रूप में इन तीनों के कई स्तर हैं, एवं अन्य साधनों की तरह इनकी भी समस्याएं हैं। पहली समस्या तो यह है कि सभी साधनों का लक्ष्य एक होते हुए भी सभी के लिए एक साधन संभव नहीं है। कोई सत्य को साधना के रूप में स्वीकार कर सकता है, कोई अहिंसा पर बल दे सकता है अथवा कोई ब्रह्मचर्य को लेकर आगे बढ़ सकता है। सभी साधन परस्पर सम्बन्धित अवश्य, हैं लेकिन भिन्न-भिन्न साधक भिन्न-भिन्न साधनों पर बल देते हैं। यही नहीं, पात्र, देश और काल के—अनुसार भी परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए जिस गरीब व्यक्ति को अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए रोजी-रोटी के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ रहा है, जिसे अपने तथा अपने परिवार के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए संघर्षरत रहना पड़ रहा है, उसके लिए अहिंसा परमोधर्म एवं चरम लक्ष्य होते हुए भी तात्कालिक साधन नहीं हो सकता। जिस देश को सदा बाहरी शत्रुओं के आक्रमण का भय बना रहता हो उसके लिए भी अहिंसा का संपूर्ण पालन सम्भव नहीं है। दुर्बल बलहीन व्यक्ति को अहिंसा का आदर्श और अधिक दुर्बल बना सकता है। क्षमा वीरस्य भूषणम्। अहिंसा उच्चतम या परमादर्श है, लेकिन समाज में कभी भी उच्चतम आदर्श का आचरण करने वाले विरले व्यक्ति ही होते हैं। व्यावहारिक स्तर पर दैनन्दिन जीवन के स्तर पर निम्नतर आदर्श को स्वीकार करना होता है, अन्यथा सारे समाज का पतन होता है।

सभी साधनों की दूसरी समस्या यह है कि साधन ही साध्य बन जाते हैं। उन पर इतना अधिक बल दिया जाने लगता है कि लोग लक्ष्य को भूल जाते हैं। यह दुराग्रह एवं कट्टरवादिता का रूप ले लेता है। अहिंसा के सम्बन्ध में भी यही बात है। अहिंसा के प्रति दुराग्रह वाले लोग चींटी, मच्छर, कीड़े-मकोड़े आदि को बचाने में ही अपना सारा समय गवां देते हैं, और यदि कहीं गलती से कीड़ा मर जाय तो अत्यधिक शोक करने लगते हैं। वे भूल जाते हैं कि इस साधना का चरम लक्ष्य सर्वभूतों में स्वयं की आत्मा का दर्शन करना है।

इससे सम्बन्धित एक और समस्या है। सभी साधनों की तरह अहिंसा के भी दो पक्ष हैं स्थूल शारीरिक अथवा भौतिक तथा सूक्ष्म भावरूप, अथवा मानसिक। कालान्तर में स्थूल पर अधिक बल दिया जाने लगता है, क्योंकि वह सरल होता है, आसानी से समझ में आता है, तथा प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसकी सामाजिक मान्यता होती है तथा प्रसंशा भी प्राप्त होती है। अहिंसा के सम्बन्ध में भी यही बात है। मानसिक या भाव अहिंसा अधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी अधिक कठिन होती है। किसी प्राणी की हत्या नहीं करना आसान है लेकिन किसी के प्रति द्वेष भाव पूरी तरह त्यागना कठिन है। अतः अहिंसा भी कालान्तर में प्राणि हत्या नहीं करना, निरामिष भोजन त्याग आदि में ही परिवर्तित होकर रह जाती है। मैत्री भाव बढ़ाने को गौण महत्त्व मिलने लगता है। यही नहीं, साधना का नकारात्मक पक्ष प्रबल

हो जाता है। दूसरों के कष्ट को लाघव करना भी अहिंसा का अंग है यह बात गौण हो जाती है।

रामकृष्ण विवेकानन्द भावधारा में अहिंसा— वस्तुतः सभी अवतारी महापुरुष प्रेम व अहिंसा को शाश्वत संदेश के रूप में अपने जीवन द्वारा प्रदर्शित करने एवं उसका उपदेश देने के लिए ही आते हैं। श्रीरामकृष्ण भी इसके अपवाद नहीं हैं। श्रीरामकृष्ण की जीवनी पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक ब्रह्मज्ञ पुरुष थे, तथा अत्यन्त स्वाभाविक रूप से ब्रह्मात्मैकत्व में प्रतिष्ठित थे। अहिंसा के संदर्भ में वे पारमार्थिक अहिंसा में सर्वदा प्रतिष्ठित थे। गले के कैन्सर से पीड़ित हो जब वे मुँह से कम खा पी रहे थे, तब भी उन्हें यह अनुभूति थी कि वे असंख्य भक्तों के मुँह से खा रहे हैं। यह तभी सभव है, जब वे समस्त प्राणियों में स्वयं को अवस्थित देखें। एक बार उन्होंने स्वयं भोजन करके अपने अनेक भूखे भक्तों की क्षुधा निवृति की थी। यह भी तभी सम्भव हैं जब वे स्वय को सभी की देहों में अवस्थित देखें। एक मांझी के दूसरे मांझी पर कराघात करने पर स्वयं उसका अनुभव करना तथा घास पर चल रहे व्यक्ति के पदाघात को स्वयं के सीने पर अनुभव करना भी श्रीरामकृष्ण के पारमार्थिक अहिंसा में प्रतिष्ठित होने के दृष्टान्त हैं। वे सर्वत्र, यहाँ तक कि वनस्पति में भी आत्मा का दर्शन करते थे, अतः एक अवस्था ऐसी आयी थी जब वे हरी दूब पर पैर नहीं रख सकते थे, तथा उसे बचा कर, सूखी जमीन पर पैर रख-रख कर चलते थे।

जहाँ तक भाव अहिंसा अथवा मानसिक अहिंसा का प्रश्न है, इसमें भी श्रीरामकृष्ण पूर्ण प्रतिष्ठित थे। उनका जन्म ही जगत् के कल्याण के लिए हुआ था। दुखी बद्ध, आर्त प्राणियों के लिए वे करुणा से पूर्ण थे, तथा उनका समग्र जीवन दूसरों के कष्ट लाघव करने तथा उन्हें मुक्ति प्रदान करने में ही बीता था। सुखी एवं पुण्यात्माओं के प्रति उनके मन में मुदिता एवं मैत्री का भाव था। वे उनके दर्शन करके आनन्दित होते थे, तथा उनसे मैत्री स्थापित करते थे। केशव चन्द्रसेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर एवं अन्यान्य मनीषियों एवं सन्त पुरुषों के दर्शन करने वे स्वयं गये थे। दुष्टों के प्रति उनके हृदय में उपेक्षा का भाव था। जिस ब्राह्मण पूजारी ने उन्हें लात से मारा था, उसे किसी प्रकार हानि न हो, यह सोच कर उन्होंने उसकी बात श्रीमथुरनाथ विश्वास को नहीं कही। यहाँ तक कि श्रीरामकृष्ण ने किसी की निन्दा तक नहीं की। प्रेम कभी दोष नहीं देखता। किसी की निन्दा करना अथवा उसके दोष देखना प्रेम का लक्षण नहीं, बल्कि ईर्ष्या एवं स्वयं की उच्चाभिलाषा का फल है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि किसी का दोष नहीं देखना चाहिए।

भय अहिंसा का विरोधी है। अहिंसक सभी प्राणियों को अभय प्रदान करता है और स्वयं भी सभी से निर्भय हो जाता है। क्योंकि उसकी यह मान्यता होती है कि सभी में एक ही आत्म सत्ता है। व्यावहारिक स्तर पर भय पर विजय पाने का प्रयत्न करना अहिंसा-साधना का एक अंग है। श्रीरामकृष्ण इसका उपदेश दिया करते थे। मास्टर महाशय एक बार नाव के डाँवाडोल होने पर भय-भीत होकर उतर गये थे। वे अपने परिवार वालों से भी भयभीत रहते थे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें इसे त्यागने का उपदेश दिया था।

माँ सारदा तो प्रेम व अहिंसा की जीवन्त प्रतिमूर्ति ही थीं। "कोई पराया नहीं है, सभी अपने हैं, सभी को अपना बनाना सीखो"—माँ सारदा का यह उपदेश अहिंसा और प्रेम का ही उपदेश है। "किसी का दोष न देखो" यह उनका सबसे महत्वपूर्ण सन्देश अहिंसा का आधार है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भी अहिंसा सर्वोपरि है।

वे अहिंसा के महत्व को समझाने के लिए पयहारी बाबा का दृष्टान्त दिया करते थे, जिनके लिए सांप चोर आदि सभी परमात्मा के ही रूप थे। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि जो पूर्ण नैतिक है, वह किसी प्राणी या व्यक्ति की हिंसा नहीं कर सकता। जो मुक्त होना चाहता है, उसे अहिंसक बनना होगा। जिसमें पूर्ण अहिंसा का भाव है, उससे बढ़कर कोई शक्तिशाली नहीं है। स्वयं स्वामीजी ऐसी स्थिति में अवस्थित थे जहाँ से वे संसार के समस्त प्राणियों के कष्टों का अनुभव कर सकते थे। वे संसार के उद्धार के लिए बार-बार जन्म लेने के लिए भी प्रस्तुत थे।

अहिंसा और आहार—अहिंसा की चर्चा करने पर साधारणतया लोगों में कीड़े-मकोड़ों की हत्या न करना तथा निरामिष भोजन का विचार आता है। उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि वास्तविक अहिंसा इन स्थूल विषयों से कहीं अधिक व्यापक है। जिसने अहिंसा को व्रत के रूप में, अपनी साधना के प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार किया है उसे निश्चित रूप से मांसाहार अथवा आमिष भोजन का त्याग करना चाहिए। योगियों के लिए भी आमिष भोजन वर्जित है। अन्य प्राणी के मांस से स्वयं के शरीर के पोषण का विचार अत्यन्त गर्हित है। मांस-मछली आदि तमोगुणी आहार हैं, एवं किसी भी साधक के लिए उपयोगी नहीं माने जा सकते: लेकिन जो लोग, जैसे शीत प्रधान देशों में रहने वाले लोग बाल्यकाल से ही मांसाहार करते हैं, उनके लिए वह इतना बुरा नहीं है। उनका शरीर एवं मन मांस खाने का अभ्यस्त हो जाता है। लेकिन ऐसे लोगों को भी साधना प्रारम्भ करने तथा कुछ प्रगति करने पर एक अवस्था में उसका त्याग कर निरामिष आहार को ग्रहण करना पड़ता है। हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है कि मैथुन, मद्यपान एवं मांसाहार मानवों के लिए स्वाभाविक है, लेकिन इनके त्याग में महान पुण्य है। आहार का मन पर भी प्रभाव पड़ता है: आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः। अतः जहां तक आध्यात्मिक साधक का प्रश्न है उसके लिए निरामिष आहार ही श्रेष्ठ है, यह बात असंदिग्ध है।

लेकिन इसके सामाजिक, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष भी हैं। स्वामी विवेकनन्द ने इस प्रश्न के विभिन्न पक्षों पर विशद विचार किया है, और जिज्ञासु पाठक विवेकानन्द साहित्य में उनके प्रसिद्ध लेख "प्राच्य और पाश्चात्य" में इसे पढ़ सकते हैं।

●

'मैं सत् चित् आनन्द हूँ, मैं शान्त देदीप्यमान और अपरिवर्तनीय हूँ।'

'मेरा जन्म नहीं, मेरी मृत्यु नहीं, मैं निर्लेप आत्मा हूँ।' ऐसी धारणा में एकदम तन्मय हो जाओ।

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द की भारत परिक्रमा एवं धर्ममहासम्मेलन की तैयारी

—स्वामी विमलात्मानन्द
अनुवादक—ब्रह्मचारी गौरी शंकर
बेलुड़मठ

स्वामी विवेकानन्द ने गुरुभाइयों का माया-पाश तोड़ कर मेरठ का परित्याग किया एवं दिल्ली में उपस्थित हुए। वहाँ विचरण करते हुए उन्होंने अनुसंधान पूर्ण नेत्रों से हिन्दू-मुसलमान शासकों की स्मृति से जुड़े प्राचीन-प्रासाद, दुर्ग, समाधिस्थान आदि देखे। ऐतिहासिक चेतना के लिए उनके मनन आलोक में उद्भासित् हुआ भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं ईसाइयों का विचित्र रूप तथा भारत के ईसाइयों का समन्वयी स्वरूप। इसी के साथ उन्होंने अनुभव किया—कितना क्षणभंगुर है यह सब ऐश्वर्य—महतो महीयान आत्मा ही चिर-भास्वर है! स्वामीजी दिल्ली में एक-दो सप्ताह तक थे। सर्वप्रथम वे सेठ श्यामल दास के घर के दुमंजिले पर थे। बाद में चाँदनीचौक, के डा० हेमचन्द्र सेन के घर में।[75] गुरुभाई लोग मेरठ से दिल्ली भ्रमण करते हुए आये तो आकस्मिक रूप से स्वामीजी से उनकी मुलाकात हो गयी। उनलोगों को देख कर स्वामीजी मन ही मन प्रसन्न हुए, किन्तु कृत्रिम नाराजगी दिखाते हुए बोले : देखो भाई, मैं तो पहले ही तुमलोगों को बतला चुका हूँ कि मैं निःसंग रहना चाहता हूँ। मैं पहले ही बोल चुका हूँ कि मेरा अनुसरण नहीं करो। वही बात फिर कहता हूँ—मैं नहीं चाहता हूँ कि कोई मेरे साथ रहे। मैं अभी ही दिल्ली छोड़ कर जा रहा हूँ। कोई भी मेरा अनुसरण करने के लिए उद्यत् नहीं होगा या कोई भी मुझे खोजने का प्रयास नहीं करेगा। मैं यही चाहता हूँ। तुम लोग मेरी बात सुन लो। मैं अतीत के सभी सम्बन्धों को तोड़ना चाहता हूँ। मैं अपने मन से विचरण करूँगा—पहाड़, जंगल, मरुभूमि या नगर में—चाहे जो भी क्यों न हो, जो भी क्यों न आए—मैं चला। अपनी-अपनी बुद्धि-विवेचना के अनुरूप प्रत्येक भाई साधन में रत हागा, यही मैं चाहता हूँ।[76] गुरुभाइयों ने स्वामीजी को बातों को शिरोधार्य कर बतलाया : "दिल्ली में स्वामी विविदिषानन्द नामक एक अंग्रेजी जानने वाले साधु के बारे में सुनकर उसी को देखने की अभिलाषा से हमलोग यहाँ आये तो तुमको देखा। यह एक आकस्मिक घटना मात्र है।

स्वामीजी दिल्ली से एक दिन बाहर निकल पड़े। इसी समय उन्होंने अन्तः मन में अनुभव किया कि एक अदृश्य शक्ति उन्हें क्रमागत निःसंग परिक्रमा के पथ पर चला रही थी, कौन जाने उन्हें कहाँ से आदेश प्राप्त होता था—"यह करो"। स्वामीजी भी उस आदेश का पालन नतमस्तक हो कर किया करते थे।[77] स्वामीजी की परवर्ती परिक्रमा का क्षेत्र हुआ राणा प्रताप की जन्मभूमि, पद्मिनी की भूमि, वीर प्रसविनी राजपूताना। सन् ई० १८९१ का फरवरी महीना—स्वामीजी

सर्व प्रथम अलवर गये। वहाँ बंगाली डाक्टर गुरुचरण लस्कर के द्वारा व्यवस्थित बाजार में एक दुतल्ला घर में स्वामीजी ने आश्रय पाया।[78] उसी घर में प्रतिदिन विचार गोष्ठी बैठती थी। हिन्दू, मुसलमान सम्प्रदाय के बहुत लोग उस चर्चा में भाग लेते थे। स्वामीजी उपनिषद्, पुराण, कुरान, बाईबिल से आरम्भ कर बुद्ध, शंकर, रामानुज, नानक, चैतन्य, तुलसीदास, कबीर, रामकृष्ण आदि अवतार एवं महापुरुषों के जीवन व भाव की व्याख्या करते थे। कभी वे सूरदास, चण्डीदास, विद्यापति आदि भक्त कवियों के द्वारा रचित भजन गाते एवं श्रोतावृन्द को भक्तिरस से आप्लावित कर देते थे। डॉ० लस्कर के घर में स्थान पर्याप्त नहीं होने से स्थानीय अनुरागीवृन्द अलवर के राजा के यहाँ कार्यरत इन्जिनियर पंडित शम्भूनाथजी के घर उनके रहने एवं चर्चा करने की व्यवस्था कर दी।

अलवर में कितने ही लोगों ने स्वामीजी का दर्शन किया, उनके सान्निध्य, उपदेश एवं भाव संचार से कृतार्थ हुए--कितने ही पण्डित, अज्ञ, वृद्ध, युवक, बालक; कितने भिन्न धर्मों एवं रुचि के लोग; धनी, दरिद्र—सभी आये, सभी ने नवजीवन का आस्वादन पाया। उसी समय स्वामीजी ने यहाँ कुछ विशेष भाग्यवानों को मंत्रदीक्षा भी दी थी।[79]

क्रमशः स्वामीजी के गुणों की बात अलवर के राजा के दीवान मेजर रामचन्द्रजी के पास पहुँच गयी। वे स्वामीजी के साथ वार्त्तालाप मात्र से ही समझ गये कि स्वामीजी उच्चकोटि के अनुभूति सम्पन्न एक महायोगी थे। वे समझ गये कि यही महात्मा पाश्चात्य भाव से भावित राजकार्य में अनिच्छा दिखाने वाले राजा मंगल सिंह के विचारों में परिवर्त्तन लाने में सक्षम होंगे।

प्रथम परिचय के बाद ही दीवानजी स्वामीजी का सत्संग लाभ करने के लिए उन्हें अपने घर ले गये। महाराजा मंगल सिंह उस समय शहर से दो-तीन मील दूर एक एकान्त प्रासाद में निवास कर रहे थे। दीवानजी ने महाराज को स्वामीजी के बारे में बताने के लिए एक पत्र लिखा। राजा सीधा दीवानजी के घर आकर स्वामीजी के सामने उपस्थित हुए। मंगल सिंह मूर्ति पूजा के विरोधी थे। मूर्तिपूजा पर वे व्यंग भी किया करते। स्वामीजी के साथ कुछ क्षण वार्त्तालाप के पश्चात महाराजा ने व्यंगपूर्ण ढंग से प्रश्न किया: "अच्छा, स्वामीजी महाराज, जो लोग मूर्ति पूजा करते हैं, मेरा उस पर बिल्कुल विश्वास नहीं है; तो मेरी क्या दशा होगी?" स्वामीजी के उत्तर के लिए उपस्थित परिषद् वर्ग उत्तेजित हो रहे थे। स्वामीजी की दृष्टि दीवाल पर टंगी राजा की प्रतिकृति के ऊपर पड़ी। उन्होंने उसे उतार लाने को कहा। स्वामीजी ने दीवानजी एवम् अन्य समासद वर्ग से अनुरोध किया कि वे राजा की उस छवि के ऊपर थूक फेंके। उस समय सभी की आँखें भय एवं विस्मय से भर गयीं। सभी आवाक् रह गये, किं-कर्त्तव्यविमूढ़ दीवानजी बोलने के लिए बाध्य हो गये, कि राजा की प्रतिकृति के ऊपर थूक फेंकना सम्भव नहीं। क्योंकि वह तो उनलोगों के राजा का था। उस समय स्वामीजी ने केवल हँसकर महराज की उपस्थिति में ही दीवानजी से कहा: "वह तो हुआ, किन्तु महाराज तो सशरीर इस चित्र में हैं नहीं! ... तब भी आप लोग इस छवि में महराज को देख पा रहे हैं।" इसके बाद स्वामी जी ने महाराज की तरफ मुड़ कर कहा। देखिए महाराज, एक तरह से आप यह चित्र नहीं हैं किन्तु दूसरी तरह से आप हैं।... यह तो आपका ही प्रतिबिम्ब है, यह उनलोगों के समीप रहने से आपके बारे में स्मरण हो जाता है। इसकी तरफ

देखने से हो ये लोग आपका ही दर्शन करते है। फिर आपको व्यक्तिगत रूप से ये लोग जितना सम्मान करते है उतना ही इस चित्र का भी। जो अनेक लोग पत्थर या धातु से निर्मित प्रतिमा में देव-देवी की पूजा करते है, उनका सम्बन्ध भी ठीक उसी प्रकार का है अर्थात लोग इसी कारण भगवान् की पूजा प्रतिमा के करते है कि यह प्रतिमा उन्हें इसके इष्ट की बात या उसके ऐश्वर्य की बात याद दिला देती है एवं उनके ध्यान-धारणा में सहायता करते है। ये लोग तो किसी पत्थर या धातु की पूजा नहीं करते है। सभी उसी एक अद्वितीय ईश्वर स्वरूप परमात्मा की पूजा करते है एवं अपने को जो जिस भाव से समझता है या जिस रूप से चिन्तन करता है वे भी उसी भाव से उसे दर्शन देते है।" मंगल सिंह ने स्वामीजी के सामने कृपा की भिक्षा की मांग करते हुए कहा, स्वामीजी, आपने अभी जिस प्रकार मूर्त्ति-पूजा की व्याख्या की, ...मैं यह तत्त्व जानता नहीं था, आपने हमारी आँखें खोल दीं।

स्वामीजी के विदाई ग्रहण करने के उपरान्त अभिभूत मंगल सिंह ने दीवानजी से कहा: "इस प्रकार का महात्मा मैंने और कभी देखा नहीं; आपलोग इन्हें कुछ दिन और यहाँ पकड़ रहिए न!" दीवानजी ने मंगल सिंह की इच्छा बताकर स्वामीजी से वहीं प्रासाद में जब आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया तो उन्होंने एक शर्त पर राजी होना स्वीकार किया। वह शर्त थी—धनी, दरिद्र मूर्ख या पंडित सभी श्रेणी के लोगों को निर्विशेष रूप से स्वाधीनतापूर्वक उनके पास आने जाने की अनुमति रहेगी। बस क्या था, दीवानजी ने इस शर्त को सानन्द स्वीकार कर लिया।"

अलवर में स्वामीजी करीब सात सप्ताह तक थे। अलवर वासी यहाँ उन्हें एक परिपूर्ण आचार्य रूप में पाये थे। भाव, भक्ति एवं ज्ञान—किसी भी चीज की कमी नहीं थी। स्वामीजी ने अथक रूप से सभी को स्वीकारा। अलवर राज के सेना विभाग के प्रधान लाला गोविन्द सहाय एवं जेल अधीक्षक हर बक्त फौजदार स्वामीजी के प्रति गम्भीर रूप से आकृष्ट हुए थे। गोविन्द सहाय ने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया।[३३] अजमेर एवं आबूपहाड़ से स्वामीजी ने गोविन्द सहाय को तीन पत्र लिखे थे। एक पत्र (३० अप्रैल १८९१) में स्वामीजी लिखा था। वत्सगण धर्म का रहस्य केवल मतवाद में नहीं है, यह तो साधना में निहित होता है। सत् होना एवं सत्कर्म करने में ही समग्र धर्म अवस्थित है।[३४]

स्वामीजी ने अलवर में युवकों के लिए संस्कृत शिक्षा एवं भारत-साहित्य संधान की कार्यकारिता की व्याख्या करते हुए कहा था: "संस्कृत पढ़ो एवं साथ ही साथ पाश्चात्य विज्ञान की चर्चा करो, फिर सभी बातों को यथावत् देखना-बोलना सीखो। इसके बाद अन्य कार्य, जिससे हमलोगों के देश के इतिहास को विज्ञान सम्मत भित्ति के ऊपर नवीन भाव से गढ़ सको। अभी भी वेद, पुराण एवं भारत के प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन के लिए किस प्रकार भारतीय इतिहास के अन्वेषण के क्षेत्र में हमलोगों को आत्मनिर्भरता का पथ निर्मित करना होगा एवं उनका अवलम्बन कर महान अनुभूति-सम्पन्न अन्तहीन प्रेरक भाषा में इस भूमि के इतिहास-संकलन को स्वयं के जीवन के लिए साधना-रूप में ग्रहण करना होगा—ये सब हमलोगों के स्वयं के दायित्व के द्वारा हो रहा है। भारत के इतिहास की रचना भारतीयों को ही करनी होगी। अतः विस्मृत-सागर से हमलोग को लुप्त एवं गुप्त रत्न राशि के उद्धार के लिए वचन-बद्ध होना होगा। ·· जब तक भारत के गौरवमय अतीत को जन-साधारण के मन में पुनर्जीवित नहीं कर पा रहे हो तब तक तुमलोग रुको नहीं। वही होगी स्वाभाविक शिक्षा एवं इसी शिक्षा के साथ-साथ लोगों में स्वाभाविक जातीयता का बोध जाग उठेगा।[३५]

इसी प्रकार अलवर में युवकों के लिए उन्होंने भारत-कल्याण चिन्तन की रूपरेखा को उपस्थित किया था। स्वामीजी का चिन्तन कितना सुदूर प्रसारी एवं व्यावहारिक था, इसे जानकर हमें आवाक् होना होगा। उन्होंने कहा "चरित्र की रक्षा करते हुए अर्थ उपार्जन करना कोई चाहता नहीं, इस विषय के बारे में कोई विचार नहीं करता, किसी के भी मन में यह बात उठती ही नहीं है। हमलोगों की शिक्षा का दोष ही इस प्रकार उपस्थित है। जो हो, मैं तो समझता हूँ कि खेती बाड़ी करना ही अच्छा है।...ज्ञानहीन कृषकों के द्वारा खेती नहीं, विद्वान बुद्धिमानों की बुद्धि द्वारा खेती करना होगा। गाँवों के लड़के दो पन्ना अंग्रेजी पढ़कर शहर में भाग आते हैं, गाँव में तो काफी जमीन है, उससे उनलोगों का पेट भरता नहीं—मन की तृप्ति नहीं होती है। शहरी होना होगा, नौकरी करनी होगी। गाँवों में उन्हें रहने एवं पढ़े-लिखे लोगों का वहाँ निवास करने एवं खेती वैज्ञानिक रीति के द्वारा करने से उत्पादन अधिक होता है—इससे खेतीहरों की आँखें खुल जाएँगी, उनलोगों की बुद्धि खुले, लिखने-पढ़ने की इच्छा जागृत हो, हमलोगों के देश की सबसे अधिक आवश्यकता भी यही है।" एक शिष्य ने प्रश्न किया, "यह क्या स्वामीजी ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया : "इस छोटी जाति और बड़ी जाति के बीच भाई भाई के भाव से मेल जोल हो ! यदि तुम्हारे जैसे लोग कुछ लिखना-पढ़ना सीख कर यदि गाँव में रह कर खेती करें, और किसानों के साथ अपने अनुसार व्यवहार करें, घृणा न करें, तो देखोगे कि वे इतने अभिभूत हो जाएँगे कि तुमलोगों के लिए वे प्राण भी देने को प्रस्तुत हो जाएँगे। यह हमलोगों के लिए अभी अत्यावश्यक है कि जनसाधारण को शिक्षित किया जाय, छोटी जाति के लोगों के बीच धर्म के उच्च आदर्शों को देना, परस्पर सहानुभूति, स्नेह एवं उपकार करना सिखाना—वह भी अति अल्प प्रयास से लाना होगा।" शिष्य ने पुनः प्रश्न किया : वह कैसे होगा ?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "ज्ञान-पिपासा सभी मनुष्य के अन्दर रहती है। उसे एक व्यक्ति प्राप्त कर उसका अभ्यास करता है एवं उस बात को ग्रहण कर लेता है। वे लोग वही सुयोग यदि अपने घर में इसी प्रकार संध्या समय गहराई से कथा कहानियों के माध्यम से शिक्षा देना आरम्भ करें, तो जो राजनैतिक आन्दोलन के द्वारा हजार वर्षों में नहीं कर सकते हैं, उससे सौ गुणा अधिक फल दस वर्षों में ही होगा।"[86]

भारत परिक्रमा के समय अलवर में हम लोगों ने स्वामीजी को मात्र एक साधारण संन्यासी के रूप में नहीं देखा है, उस समय उनमें एक प्राज्ञ देश नेता का स्फुरण हुआ था। उसी समय उन्हें यह ज्ञात हो पाया था—कृषिप्रधान भारत के लिए वैज्ञानिक पद्धति से खेती करने की प्रयोजनीयता एवं गाँवों की उन्नति की कार्यकारिता। इस समय इस पुकार की चिन्ता किसी के द्वारा की गयी हो यह कहना कठिन है।

अलवर में अनुरागी भक्तशिष्यों से विदाई लेकर स्वामीजी जयपुर के पथ पर रवाना हुए। जयपुर में अलवर के एक अनुरागी भक्त ने, जो रास्ते में रेलवे स्टेशन से स्वामीजी का साथी हो गया था, बहुत आग्रह एवं अनुरोध कर स्वामीजी का एक फोटो लिया। परिव्राजक स्वामीजी का यही प्रथम आलोक चित्र हुआ।

जयपुर में स्वामीजी दो सप्ताह तक थे। वे जयपुर में कहाँ थे यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है। फिर भी जयपुर में महाराज के प्रधानमत्री संसार चन्द्र सेन के घर वे कई दिनों तक थे। स्वामीजी

ने अपने सुमधुर कण्ठ से गान गाकर वहां के प्रवासी बंगाली लोगों का हृदय जीत लिया। संसार सेन की कन्या ज्योतिर्मयी देवी ने लिखा है—"घर का बैठकखाना उस समय बाहर में था, वहीं स्वामीजी बैठे थे। लड़कियां, मां, दादी मौसी, अन्य आत्मीय लोग, सभी ने पास ही एक घर में बैठकर पर्दे के पीछे से जगत्-विख्यात् संन्यासी के दर्शन किये थे, उस समय स्वामीजी निश्चित ही एक अपरिचित संन्यासी थे), एवं कई अन्य गान भी सुने थे। गिरीशचन्द्र के नाटक 'बुद्धदेव का चरित्र" का विख्यात गान—

जुड़ाइते चाई कोथाय जुड़ाई।
कोथा होते आसी कोथा भेसे जाई।

कौन जानता था भस्माच्छादित आग की तरह इस संन्यासी की दीप्ति एवं महिमा? जब १८९३ ई० में एक समय जगतवासियों ने आश्चर्य-चकित होकर उनकी तरफ देखा, उसी दिन उन प्रवासी एवं अन्तःपुर महिलाओं को परम विस्मय के साथ यह बोध हुआ कि अपने जयपुरवास का वह एक दिन कितना महत्त्वपूर्ण था एवं उसे उन्होंने मुग्ध होकर स्मरण भी किया। पुनः दो-तीन गान गाये गये—

एलो कृष्ण एलो उई, बाजलो बांसुरी।
राधा-अभिलाषी; 'राधा' बोले बाँसी।
बाँसी डाके तोरे, उठ लो किशोरी॥...

और फिर यह गान ..

जावे कि हे दिन
आमार विफले चलिये।[87].....

(क्रमशः)

संदर्भ सूची

७५. सेठ श्यामल दास का बगानबाड़ी वर्तमान पुरानी दिल्ली के रोशनारा रोड पर है। बहुत वर्षों पहले इस घर को दिल्ली प्रशासन ने अधिग्रहण किया। सबसे पहले यहां प्राथमिक विद्यालय था। बाद में 'लड़कियों के लिए मॉडल सिनियर सकेण्डरी स्कूल' हुआ। घर बाद में अत्यन्त जीर्णदशा के कारण व्यवहार के लिए अनुपयोगी हो गया। बगान-बाड़ी के घेरे में स्कूल के लिए कई एक तल्ला नवीन घर बने हैं। गत २० नवम्बर १९९२ को दिल्ली में स्वामीजी के पदार्पण के उपलब्ध पर इसी घर के प्रांगण में स्वामीजो के भारत परिक्रमा का शत वर्ष उद्यापित हुआ।

७६. युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ-३०१

७७. स्वामी विवेकानन्द, प्रथम भाग, पृ.-२२२

७८. यह घर अभी-भी है, वर्तमान अलवर के पुराना शहर के आद्या मंदिर के ठीक विपरीत।

७९. युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ.-३०८

८०. दीवान रामचन्द्रजी का घर पुराना अलवर शहर में हरवक्स महल्ला में स्थित है। दीवानजी का घर अभी भी है; अत्यन्त जीर्णावस्था में। घर के दुमंजिले पर स्वामीजो एक घर में रहते थे। यह भाग वर्तमान व्यवहार योग्य नहीं है। दीवानजी के वर्तमान वंशधर उनके नाती श्री व्रजेन्द्र बहादुर वहां हैं, उनकी उम्र अभी (१९९३ ई० में) ७५ वर्ष है।

(शेष संदर्भ सूची पेज ३० पर देखें)

शंकर चरित

—इन्द्रदयाल भट्टाचार्य
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मिशन, रायपुर (म०प्र०)

कामरूप में

कामरूप में एक प्रबल तांत्रिक वामाचारी सम्प्रदाय के नेता थे अभिनव गुप्त। उन्होंने वेदान्त सूत्र के एक शाक्त भाष्य की रचना की थी। शंकर के वहाँ पहुँचने पर दोनों के बीच कई दिनों तक तर्क-विचार होता रहा। अभिनव गुप्त ने पराजित हो जाने पर कपट भाव से आचार्यदेव का शिष्यत्व ग्रहण किया। परन्तु ईर्ष्यावश उनका हृदय जला जा रहा था; अतः 'अभिचार' क्रिया के द्वारा उन्होंने आचार्यदेव के निष्पाप शरीर में भगन्दर रोग उत्पन्न किया। शिष्यगण प्राणपण से गुरु की सेवा करने लगे। तोटकाचार्य गुरु की सुश्रूषा करते हुए आहार-निद्रा तक भूल गये। आचार्यदेव इस रोग का कारण समझते थे, इसीलिए वे किसी प्रकार की चिकित्सा कराने को राजी नहीं हुए। शिष्यों के निरंतर अनुरोध पर आखिरकार उन्होंने औषधि का सेवन किया, परन्तु उससे रोग का थोड़ा भी उपशम नहीं हुआ। शिष्यगण बड़े भीत हुए। पद्मपाद योगबल से जान गये कि यह अभिचार द्वारा उत्पन्न रोग है और चिकित्सा से ठीक होनेवाला नहीं है। तब उन्होंने अभिचारियों के ही शरीर में रोग को लौटा देने के लिए प्रत्यभिचार किया। आचार्यदेव ने हिंसा करने से उन्हें बारम्बार मना किया, परन्तु गुरुभक्त शिष्य ने बहुजनहिताय गुरु के आदेश का उल्लंघन रूपी महापाप स्वीकार कर उनकी देहरक्षा की। शंकर स्वस्थ हुए और अभिनव गुप्त अपना पाप स्वयं भोगकर दिवंगत हो गये।

विद्यापीठ पर आरोहण

भूस्वर्ग काश्मीर उन दिनों विद्याचर्चा के केन्द्र के रूप में भारत भर में विख्यात था। वहाँ एक विश्व-विद्यालय था जिसमें सर्व शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। उसमें सरस्वती देवी का एक मन्दिर भी था। मंदिर के चारों ओर चार द्वार थे और द्वार के सम्मुख एक मण्डप था। मन्दिर में स्थित एक आसन विद्याभद्रासन या सरदारपीठ कहलाता था। मंदिर के संस्थापकों ने ऐसा नियम बना रखा था कि मंदिर के चारों ओर फैले देशों से आगत जो भी पण्डित मन्दिर-रक्षक पण्डितमंडली के प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देकर अपने देश की ओर के द्वार को खोल उक्त पीठ पर आरोहण कर सकेंगे, उन्हें सर्वज्ञ मान लिया जायेगा। इसके पहले पूर्वोक्त नियमानुसार पश्चिम, उत्तर एवं पूर्वदेशीय पण्डितों ने अपने देशाभिमुखी द्वार का उद्घाटन कर सर्वज्ञ की उपाधि प्राप्त कर ली थी। परन्तु दक्षिण के कोई पण्डित अब तक दक्षिणी द्वार का उद्घाटन नहीं कर सके थे।

शंकर ने सोचा कि उस पीठ पर आरोहण कर सर्वज्ञ की ख्याति पा लेने पर अनायास ही काश्मीर राज्य में वैदिक धर्म तथा अद्वैत मत गृहीत हो जाएगा। ऐसा विचार लेकर वे सशिष्य काश्मीर जाकर सारदापीठ का दक्षिणी द्वार खोलने को उद्यत हुए। मन्दिर-रक्षक पण्डितों ने उन्हें रोककर तर्क-विचार करने का आह्वान किया। शंकर ने खेल-खेल में ही एक-एक कर पूरी

पण्डितमण्डली ने प्रश्नों का उत्तर देकर सबको चुप कर दिया। तदुपरान्त उन्होंने द्वार खोलकर विद्याभद्रासन पर आरोहण करके सर्वज्ञ की उपाधि अर्जित की। फिर तो अल्प अवधि में ही काश्मीर में उनका मत प्रचारित हो गया

लीलावसान

काश्मीर में प्रचार कार्य समाप्त हो जाने पर शंकर को लगा कि अब उनका कर्तव्य पूरा हो चुका है। व्यास की दी हुई उनकी आयु भी अब समाप्तप्राय थी। इसके पूर्व ही विविध स्थानों में प्रचार के लिए मठों की स्थापना हो चुकी थी, अब उन्होंने शिष्यों को वहाँ जाकर प्रचार कार्य में लग जाने का आदेश दिया। शिष्यगण भी समझ गये कि जीवन सर्वस्व गुरुदेव के साथ अब और मिलना न हो सकेगा। अतः यह आदेश उनके लिए कैसा मर्मभेदी था इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे लोग गुरु का संग त्यागने को राजी नहीं हुए। दयामय आचार्यदेव ने भी शिष्यप्रेम से बाध्य होकर कुछ काल तक उन्हें साथ लेकर हिमालय के केदारधाम में निवास किया। तदुपरान्त उन लोगों को पूर्वनिर्दिष्ट कार्य में भेजकर वे महासमाधि के द्वारा अन्तर्हित हो गये।

शिवावतार भगवान शंकराचार्य की कृपा से परस्पर-प्रतिद्वन्द्वी धर्मों का कलह-कोलाहल शांत हो गया। उनकी आध्यात्मिक शक्ति तथा शिष्यों के प्रचार के फलस्वरूप लोग अद्वैत ब्रह्मतत्त्व को लक्ष्य बनाकर सैकड़ों मतों और पथों से ब्रह्मनिर्वाण पाकर कृतार्थ होने लगे।

उपसंहार

कुमारिल ने बौद्ध कदाचार को दूर कर वैदिक सदाचार प्रतिष्ठित किया। सदाचार ही धर्म की मूल भित्ति है। शंकर ने उसी नींव पर सर्व-अवयव युक्त पूर्णांग वैदिक धर्म की स्थापना की। सामान्यतः लोगों की ऐसी धारणा है कि शंकर ने केवल ज्ञान का ही प्रचार किया है—एक अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है और जन्म-मृत्यु, धर्म-अधर्म सभी मिथ्या है—सिर्फ इन्हीं कुछ बातों का प्रचार किया है। परन्तु उनके ग्रंथों में वर्ण, आश्रम तथा ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति आदि वैदिक धर्म के सकल अंगों की बातें दीख पड़ती हैं। उन्होंने किसी नवीन धर्म का प्रचार नहीं किया, भारत में चिरकाल से प्रचलित सनातन वैदिक हिन्दू धर्म की ही उन्होंने पुनः स्थापना की थी।

सनातन धर्म

धर्म को दो भागों में विभक्त किया जाता है—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। सुखी होने के लिए अपने कर्त्तव्य को निष्ठापूर्वक पूरा करने को प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं। इस धर्म का पालन करने से इहकाल परकाल में सुख मिलता है। मन में किसी भी तरह की आकांक्षा रखे बिना केवल भगवान के प्रीत्यर्थ कर्म करने से अथवा मुक्तिलाभ के लिए ज्ञानयोग, भक्तियोग या ध्यानयोग का अभ्यास किया जाय तो उसे निवृत्ति मार्ग कहते हैं। इसके फलस्वरूप जीवन काल में ही अथवा देहान्त होने पर मुक्ति या पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति होती है।

इन दो प्रकार के धर्मों की उपलब्धि के लिए समाज को चार वर्णों तथा मानव जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया है।

वर्ण धर्म ब्राह्मण समाज की ज्ञानवृद्धि के लिए ज्ञानचर्चा करेंगे और उसका प्रचार करेंगे। क्षत्रिय समाज की रक्षा करेंगे। वैश्य समाज में धन की वृद्धि करेंगे। शूद्र शारीरिक परिश्रम कर समाज की रक्षा करेंगे।

आश्रम धर्म—बचपन में, विद्यार्थी जीवन में शरीर को पूर्वोक्त वर्णधर्म साधन के उपयोगी बना लेना पड़ता है—इसे ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं। यौवन में विवाह करके निष्ठापूर्वक अपने वर्ण का कर्तव्य पूरा करने का नाम है गृहस्थाश्रम। प्रौढ़ हो जाने पर संसार के कर्म त्यागकर केवल धर्मसाधन में लगे रहने को वानप्रस्थाश्रम कहते

है। इसी जीवन में मुक्तिलाभ के लिए ब्रह्मचर्याश्रम के बाद अथवा किसी भी समय संसार त्यागकर योगसाधन में लग जाने को संन्यासाश्रम कहते हैं।

निवृत्तिधर्म-साधन—(१) मन में किसी भी प्रकार की स्वार्थसिद्धि का संकल्प न रखकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ वर्ण तथा आश्रम के कर्त्तव्य सम्पादन करने को कर्मयोग कहते हैं। (२) अपने शरीर की प्राणशक्ति को पूर्णरूप से वश में लाकर अपने हृदय में मन को स्थिर करते करते अपने देह-मन के अतीत स्वरूप को जान लेने को राजयोग, ध्यानयोग या योगाभ्यास कहते हैं। (३) भगवान की उपासना करने से वे मनुष्य को मुक्त कर देते हैं। उनकी उपासना को भक्तियोग कहते हैं। (४) सूक्ष्मबुद्धि की सहायता से विचार करते करते देह-मन के अतीत अपने स्वरूप की उपलब्धि कर लेने को ज्ञानयोग कहते हैं।

धर्म के ये मूल नियम किसी सम्प्रदाय अथवा किसी विदेश देश-काल के लिए सीमित नहीं हैं; सभी देशों के, सभी काल के, सभी लोगों के जीवन को ये नियंत्रित करते हैं, अतः इन्हें 'सनातन धर्म' कहते हैं। इसमें चार वर्ण और चार आश्रम हैं, अतः इसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। वेद से इस धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है अतः इसे वैदिक धर्म भी कहते हैं।

शंकर की संगठन-प्रतिभा

आचार्यदेव ने केवल धर्म प्रचार करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर ली, अपितु धर्मरक्षा के लिए वे एक स्थायी व्यवस्था भी कर गये। उनके कुछ प्रमुख कार्यों का विवरण निम्नलिखित हैं—

(१) मनुष्य के अनुमान कहीं धर्म का स्थान न ग्रहण कर लें, इसके लिए उन्होंने उपनिषद्, गीता तथा वैदिकधर्म तत्त्व के विचारग्रंथ ब्रह्मसूत्र की प्रांजल व्याख्या लिखी।

(२) शृंगेरी मठ में 'बहुजनहिताय' देवी सरस्वती की प्रतिष्ठा की।

(३) वेदाचार तथा शास्त्ररक्षा के निमित्त उन्होंने सद्ब्राह्मण-सम्प्रदाय का गठन किया तथा वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना की।

(४) ज्ञानाभ्यास तथा मोक्षधर्म के प्रचारार्थ उन्होंने संन्यासी-सम्प्रदाय का गठन किया।

(५) धर्मप्रचार के केन्द्र रूप तीर्थों का उद्धार, देवताओं की प्राण-प्रतिष्ठा तथा सेवा-पूजा की व्यवस्था भी उन्होंने की।

(६) धर्म के आचार-प्रचार तथा रक्षण हेतु उन्होंने संन्यासियों के मठों की स्थापना की।

आचार्यदेव ने धर्मरक्षा के दुर्गस्वरूप भारत के चार प्रान्तों में चार मठ स्थापित किये; पश्चिम के द्वारका क्षेत्र में सारदा मठ, उत्तर में बदरिकाश्रम के निकट जोशीमठ या ज्योतिर्मठ, पूर्व के पुरुषोत्तम क्षेत्र पुरी में गोवर्धन मठ और दक्षिण के रामेश्वर क्षेत्र में शृंगगिरि या शृंगेरी मठ।

चार प्रधान शिष्यों के नेतृत्व में संन्यासियों को चार भागों में बाँटकर भारत के चार अंगों में उनके कार्यक्षेत्र निर्धारित कर दिये गये। संन्यासियों के दस तरह के नाम होने के कारण उन्हें 'दसनामी' सम्प्रदाय कहते हैं।

अनेक स्थानों के ब्राह्मण संस्कारहीन, शास्त्रज्ञान-रहित तथा कुछ बौद्धभावापन्न हो गये थे। समाज में उनका बिल्कुल भी सम्मान या प्रभाव न था। आचार्यदेव ने उन्हें दैनिक संस्कारों में संस्कृत कर, सदाचार की शिक्षा देकर पुनः समाज-शिक्षक के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था।

वे जहाँ भी जाते वहाँ के तीर्थ तथा देवालयों में पहुंचकर देवता की पूजा-अर्चना तथा स्तोत्र रचना उनमें जागृति लाते तथा उनकी सेवा-पूजा की सुव्यवस्था करते। देवी-देवताओं की जो स्तुतियाँ उन्होंने रची थीं, अब तक आसमुद्रहिमालयवासी उनका पाठकर धन्य हो रहे हैं। देवपूजा की सामान्य विधि में जो 'सोऽहं' चिन्तन करने की व्यवस्था दीख पड़ती है, वह इन्हीं अगितवीर्य महापुरुष के विधान का फल है।

शंकर की तपस्या से शृंगेरी मठ में माँ सरस्वती चिरकाल के लिए विद्यमान हैं। जब-जब भारत में धर्म की ग्लानि उपस्थित होती है, तब-तब भगवान इसी मठ के साधु-सम्प्रदाय में आविर्भूत होकर धर्मरक्षा करते हैं। पूर्णावतार श्रीकृष्णचैतन्य के संन्यासगुरु केशवभारती शृंगेरी मठ के ही पुरी-सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। उनका श्रीकृष्णचैतन्य नाम इस सम्प्रदाय के ब्रह्मचारी पदवी का द्योतक है। इसके बाद जब सम्पूर्ण जगत् पुनः इह-सर्वस्वता के अनल से दग्ध होने लगा तो इसी भूर्वार सम्प्रदाय के आचार्य तोतापुरी ने गुरुपरम्परागत ब्रह्मविद्या श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव को प्रदानकर मनुष्य के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया।

भारत के चार प्रान्तों में स्थित दसनामी सम्प्रदाय के प्रचार केन्द्र चार प्रधान मठों का विवरण —

नाम	—	शृंगेरी मठ	गोवर्धन मठ	सारदा मठ	ज्योतिर्मठ
आचार्य	—	सुरेश्वर	पद्मपाद	हस्तामलक	तोटकाचार्य
सम्प्रदाय	—	भूमिवार या भूर्वार	दोनवार	कीटवार	आनन्दवार
पदवी	—	सरस्वती, भारती, भूर्वार, पुरी	वन, अरण्य	तीर्थ, आश्रम	गिरि, पर्वत सागर
ब्रह्मचारी	—	चैतन्य	प्रकाश	स्वरूप	आनन्द
वेद	—	यजुः	ऋक्	साम	अथर्व
तीर्थ	—	तुंगभद्रा	महोदधि	गोमती	अलकनन्दा
अधिष्ठाता	—	आदिवाराह	जगन्नाथ	सिद्धेश्वर	नारायण
अधिष्ठात्री	—	कामाक्षी	विमला	भद्रकाली	पुन्यगिरि

(२६ पेज का शेषांश)

८१. युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ.-३०९-३११.
८२. वही, पृ०-३११; स्वामी विवेकानन्द, प्रथम भाग, पृ.-२३५.
८३. राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द : विविदिषानन्द से विवेकानन्द—झाबरलाल शर्मा, प्रथम खण्ड, भोलवारा संस्कृति प्रकाशन, नयी दिल्ली १९८९, पृ.-१४९-१५०.
८४. वाणी व रचना, ६ठा खण्ड, पृ.-३३५
८५. युगनायक विवेकानन्द, प्रथम खण्ड, पृ.-३१२-२१३.
८६. वही –पृ.-३१५-३१६.
८७. स्मृति आलोये स्वामीजी, पृ.-३०२.

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं

१. स्वार्थोन्मूलन ही धर्म है

विश्व के अधिकारों का विभाजन कोई नहीं कर सकता। अधिकार के विषय में बात करने का अर्थ है, सीमित होना। यह 'अधिकार' नहीं परन्तु 'उत्तरदायित्व' है। विश्व में कहीं भी कोई अशुभ हो, उसके लिए प्रत्येक उत्तरदायी है। अपने भाई से कोई अपने को पृथक् नहीं कर सकता। जो क्रियाएँ विश्व से एकत्व स्थापित करें, वे पुण्य हैं और जो विभेद स्थापित करें वे पाप हैं। तुम उस अनन्त के ही एक अंश हो। यही तुम्हारा स्वभाव है। अतः तुम अपने भाई के रक्षक हो।

जीवन का प्रथम लक्ष्य है ज्ञान तथा दूसरा लक्ष्य है सुख। ज्ञान तथा सुख मुक्ति की ओर ले जाते हैं। परन्तु जब तक हर प्राणी (चींटी या कुत्ता भी) मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक कोई भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक सभी सुखी नहीं हो जाते, कोई भी सुखी नहीं हो सकता। जब तुम किसी को क्षति पहुँचाते हो, तो अपने आपको ही क्षति पहुँचाते हो क्योंकि तुम और तुम्हारा भाई एक ही हैं। सचमुच में वही योगी है, जो अपने को सम्पूर्ण विश्व में और संपूर्ण विश्व को अपने में देखता है। आत्म-प्रतिष्ठापन नहीं, आत्मत्याग ही सर्वोच्च लोक का धर्म है। यह दुनिया इसीलिए इतनी बुरी है, क्योंकि—'अशुभ का विरोध न करो'– ईसा के इस उपदेश पर चलने का प्रयत्न कभी नहीं किया गया। समस्या का हल निःस्वता से ही हो सकता है। धर्म की उत्पत्ति प्रखर आत्मत्याग से ही होती है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो। सब दूसरों के लिए करो। यही भगवान् में निवास, विचरण और उसमें आत्म-समाहित कहा जाता है।

२. भगवत्प्राप्ति ही धर्म है

मनुष्य के द्वारा दिये गये ईश्वर के नामों में सबसे महान नाम सत्य है। सत्य भगवत्प्राप्ति का फल है, अतः उसे आत्मा के भीतर खोजो। सभी स्तकों और औपचारिकताओं से परे हो जाओ और अपनी आत्मा को अपना स्वरूप देखने दो। श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'पुस्तकें' हमें विक्षिप्त तथा विमूढ़ बनाती हैं। प्रकृति के द्वन्द्वों से परे हो जाओ। जिस क्षण तुम संप्रदाय, औपचारिकता तथा कर्मकांड को को ही सर्वस्व समझ लेते हो, उसी क्षण तुम बन्धन में बँध जाते हो। दूसरों को सहायता देने के लिए इनका उपयोग करो, परन्तु इस बात से सावधान रहो कि ये सब बन्धन न बन जायें। धर्म एक ही है, परन्तु इसकी साधना में अनेकता होनी ही चाहिए। अतएव, सभी अपना-अपना धार्मिक संदेश तो दें, परन्तु दूसरे धर्मों में कोई त्रुटि न देखें। यदि प्रकाश का दर्शन चाहते हो, तो औपचारिकता से परे जाना होगा। भगवान् के ज्ञान के ज्ञानामृत को खूब छककर पियो। जो मनुष्य यह जान लेता है कि 'मैं वही हूँ', वह चिथड़ों में लिपटे रहने पर भी सुखी रहता है। उस शाश्वत तत्त्व में प्रवेश करो और शाश्वत शक्ति के साथ वापस आ जाओ। दास सत्य का अन्वेषण करने जाता है और स्वतंत्र होकर लौटता है।

वैद्यनाथ च्यवनप्राश

अब पोलीबार में उपलब्ध

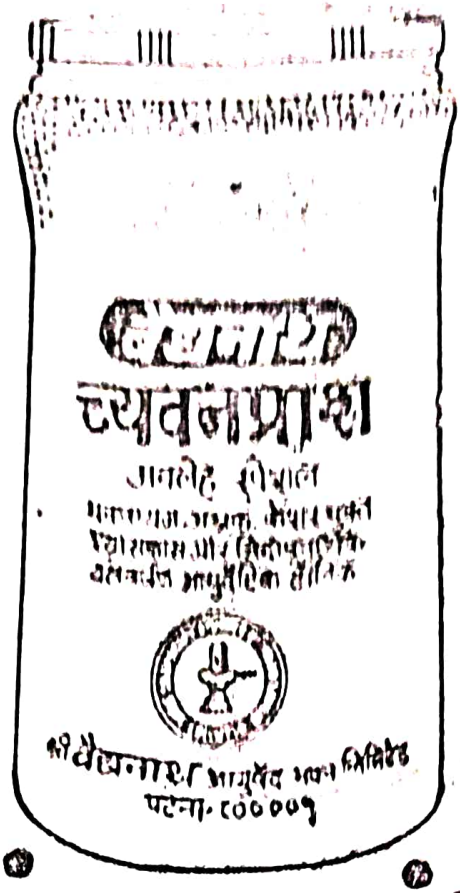

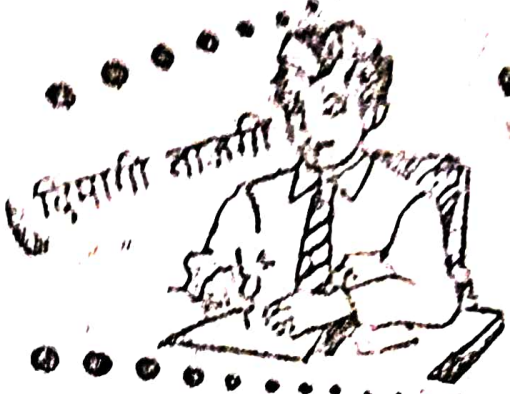

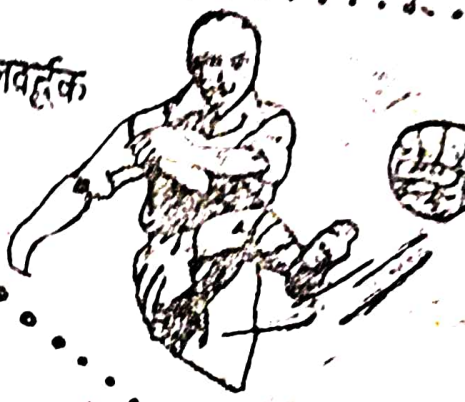

आदर्श आयुर्वेदिक पारिवारिक टानिक

कहीं आपके डिब्बे में "मोपेड" तो नहीं ?

प्रत्येक एक किलो स्पेशल और साधारण एवं ५०० ग्राम स्पेशल च्यवनप्राश के डिब्बे में इनामी कूपन प्राप्त कर "मोपेड" एवं ३०५ अन्य पुरस्कार प्राप्त करने का सुनहरा अवसर ।

वैद्यनाथ ७०० से अधिक दवाएं पांच आधुनिक कारखानों में तैयार

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि[illegible]ड

वैद्यनाथ भवन रोड, पटना-१